रस साहित्य और समीक्षायें

[भाषा, साहित्य तथा प्रमुख कवियों का रसात्मक विवेचन]

हरिऔध

सम्पादक
केशवदेव उपाध्याय

प्रमुख वितरक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
ज्ञानवापी, बनारस।

विषय-सूची

—:०:—

महाकवि "हरिऔध"
एक परिचय

श्री हरिऔध का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया सं० १६२२ तदनुसार १५ अप्रैल सन् १८६५ ई० को निज़ामाबाद, आज़मगढ़, में हुआ। आप अगस्त्य गोत्रीय, शुक्ल यजुर्वेदीय, सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपका घराना चिरकाल से प्रतिष्ठित रहा है और वह पूर्वजों की प्रतिष्ठा अब तक अक्षुण्ण चली आ रही है। आपके वंश में बड़े-बड़े विद्वानों ने जन्म लिया था। आपके पूर्वज विद्या से ही नहीं, दुर्लभ राज सम्मान से भी सम्मानित रहें। श्रीमान् पं० ब्रह्मासिंह जी उपाध्याय जो श्री हरिऔध जी के पितृव्य और विद्या गुरु भी थे, इस जिले के परम प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध ज्योतिर्विद हो गये हैं।

श्री हरिऔध के पूर्व पुरुष बदायूं के रहनेवाले थे। राजरोषभाजन एक कायस्थ परिवार की रक्षा करने के कारण उनको भी राजा के कोप का पात्र बनना पड़ा। अब से चार सौ बरस पहले आपके पूर्वज उसी कायस्थ परिवार के साथ-साथ सपरिवार निजामाबाद भाग आए थे। निजामाबाद जिला आजमगढ़ में तमसा नदी के किनारे बसा हुआ एक प्रसिद्ध कस्वा है।

श्री हरिऔध के पूर्व पुरुषों में पं० काशीनाथ जी उपाध्याय अपने समय के एक उच्च राज-कर्मचारी थे, किन्तु कुछ धार्मिक विरोध उपस्थित होने पर उनको अपना यह प्रतिष्ठित पद त्याग देना पड़ा था। श्रीमान् ब्रह्मासिंह जी उपाध्याय की चर्चा ऊपर की गई है। आप तीन भाई थे। सब में बड़े आप ही थे। आप से छोटे

श्रीमान् भोलासिंह जी उपाध्याय श्री हरिऔध जी के पिता और श्रीमती रुक्मिणी देवी माता थीं। आप एक विदुषी महिला थीं। आपकी धर्मनिष्ठा अबतक निजामाबाद में प्रसिद्ध है। श्री हरिऔध जी के जीवन पर आपके पवित्र जीवन का बहुत प्रभाव पड़ा।

श्री हरिऔध जी के पितृव्य निःसन्तान थे और श्री हरिऔध जी पर उनका विशेष प्रेम था। इन्होंने हरिऔध जी को प्रारम्भिक शिक्षा दी। स्कूली शिक्षा के साथ साथ यह घर पर अपने विद्वान् ताऊ जी से संस्कृत भी पढ़ते रहे। सन् १८७९ ई० में इन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा पास की और सरकारी छात्रवृत्ति भी इन्हें मिली। दो वर्ष तक क्वींस कालेज में पढ़ते रहे। पर अस्वस्थता के कारण इन्हें काशी छोड़नी पड़ी। अब घर पर ही संस्कृत और फारसी प्रारम्भ की, साथ ही साथ काव्य, पिंगल ग्रन्थ तथा गुरुमुखी भाषा का भी अभ्यास किया।

इनके ताऊ जी को श्रीमद्भागवत से बड़ा प्रेम था। इसके श्लोकों को पारायण करते और उनका अर्थ भी श्री हरिऔध जी को बताते जाते थे। हरिऔध जी की माता पढ़ी-लिखी थीं। उनका प्रिय ग्रन्थ था 'सुख सागर।' जब हरिऔध जी की अवस्था सात आठ साल की थी, तब से वे प्रायः उनसे सुखसागर पढ़वाया करती थीं। श्री कृष्ण का ब्रज से प्रयाण करने का प्रसंग उन्हें विशेष रुचि-कर था। उसे सुनकर वे अविरल अश्रुधारा बहाया करती थीं। इस प्रकार पं० ब्रह्मासिंह जी की भागवत चर्चा के प्रभाव के साथ श्रीमती रुक्मिणी देवी के कोमल चित्त की करुण-छबि का आकर्षण संयुक्त होकर हरिऔध के हृदय को श्री कृष्ण की ओर उन्मुख करने-वाला सिद्ध हुआ। उस समय श्रीमती रुक्मिणी देवी को यह क्या मालूम रहा होगा कि उन दिव्य करुण-प्रसूत आंसुओं को मोतियों

के समान बहुमूल्य समझकर उनका प्रिय बालक उन्हें अपने हृदय के किसी निगूढ़ स्थल में एकत्र करेगा और किसी दिन उन्हीं के द्वारा सजल नयन यशोदा और राधा का चित्र अंकित कर सहृदय संसार को चकित मुग्ध और विह्वल कर देगा।

काशी से लौटने के पश्चात् १७ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह अनन्त कुमारी देवी से हुआ, जिनका ४० वर्ष की अवस्था में १९०५ ई० के लगभग देहावसान हुआ। श्री हरिऔध जी ने फिर विवाह नहीं किया और उस सजल प्रेम का आभास 'प्रिय प्रवास' में दिया।

१६ जून १८८४ ई० को आप निजामाबाद के हिन्दी मिडिल स्कूल में अध्यापक हुए। इस पद पर १० जुलाई १८९० ई० तक रहे। सन् १८८७ ई० में इन्होंने नार्मल भी प्रथम श्रेणी में पास किया था। सन् १८९० ई० में इन्होंने कानूनगो की परीक्षा पास की और उसी वर्ष कानूनगो हो गए। चार वर्षोंतक कानूनगो रहने के अनन्तर गिरदावर कानूनगो हुए। सन् १९१८ ई० में सदर कानूनगो हुए तथा आजमगढ़ ही में रहने लगे। पैंतीस वर्ष सरकारी नौकरी में रहने के पश्चात् १ नवम्बर १९२३ में कार्यमुक्त हुए। फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अवैतनिक अध्यापक हुए। जहाँ १९३९ ई० तक कार्य करते रहे।

श्री हरिऔध जी ने अपने विद्यार्थी जीवन से ही काव्य-रचना प्रारम्भ कर दी थी। जब वे मिडिल में पढ़ते थे, तभी कबीर के ३३ दोहों पर ७५ कुंडलियाँ जोड़ी थीं।

श्री ब्रह्मासिंह जी के अतिरिक्त वहाँ के प्रतिष्ठित सिख कवि बाबा सुमेर सिंह साहबजादे का भी श्री हरिऔध जी के निर्माण में बड़ा हाथ था। जिस साल इन्होंने मिडिल पास किया, उसी साल यह बाबा जी के विशेष सम्पर्क में आये। बाबा जी भारतेन्दु मण्डल

के सदस्य थे। बाबा जी ने हरिऔध जी के लिये अपना पुस्तकालय खोल दिया था, यहीं इनका परिचय भारतेन्दु साहित्य एवं 'कवि वचन सुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की फाइलों से हुआ और हिन्दी साहित्य की ओर इनकी रुचि अत्यन्त वेग से बढ़ी।

इन्हीं दिनों हरिऔध जी तारिणीचरण मित्र नामक एक बंगाली के सम्पर्क में आये और उन्होंने बंगला सीखी। बंकिम के उपन्यास पढ़े और उनसे पर्याप्त प्रभावित हुए। पहले 'कृष्ण कान्तेर विल' का हिन्दी अनुवाद किया। बाद में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नाम के दो मौलिक उपन्यास भी लिखे, जिनमें बोलचाल की सरलातिसरल भाषा का प्रयोग हुआ है। यह हरिऔध जी की प्रथम प्रकाशित कृति है। अपनी भाषा के कारण इन्होंने साहित्यिकों का ध्यान अपनी ओर तत्काल आकृष्ट कर लिया था।

उन्नीस वर्ष की आयु में हरिऔध जी ने १९२५ ई० में अपने अध्ययन काल ही में दो पौराणिक नाटक 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय' नाम से लिखे थे जो क्रमश: १८९३–१८९४ ई० में प्रकाशित हुए।

श्री हरिऔध जी ने काव्य-रचना ब्रज भाषा में ही प्रारम्भ की थी। बाद में उन्होंने युग के चरण-चिन्हों पर चलकर खड़ी बोली में भी काव्य-रचना की। उनके ब्रज भाषा काव्यकाल की सीमा १८७९ ई० से १९०७ ई० तक है, यद्यपि वे ब्रज भाषा का स्नेह कभी भी नहीं छोड़ सके। 'रस कलस' उनका सबसे बड़ा ब्रज भाषा का काव्य ग्रन्थ है। इसकी अधिकांश रचनाएँ १९०७ ई० के पहले की हैं। यह एक रस ग्रन्थ है, जिसमें पर्याप्त नवीनता है।

श्री हरिऔध जी प्राय: ४० वर्ष तक खड़ी बोली की सेवा अगाध रूप से करते रहे। इनके दो महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' हिन्दी के लिये अमूल्य देन हैं। 'प्रिय प्रवास' संस्कृत के

अतुकांत वर्ण वृत्तों में संस्कृत की तत्सम बहुल पदावली में लिखित हिन्दी का सुन्दरतम मधुर काव्य है।

१९२० ई० के पश्चात् हरिऔध जी ने चौपदों की ओर ध्यान दिया। इनमें उर्दू की भांति कवि मुहावरों के प्रचुर प्रयोग की ओर दत्तचित्त हुआ है। बोल-चाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे और आधुनिक कवित्त, चौपदों के संग्रह हैं।

हरिऔध जी देश के नौनिहालों को भी नहीं भूले हैं। उन्होंने छोटे बच्चों के लिये भी बहुत सी कविताएँ लिखी हैं।

हरिऔध जी का भाषा पर हिन्दी के सभी साहित्यकारों से बढ़ कर अधिकार था। वे कठिन से कठिन हिन्दी लिख सकते थे-देखिये 'वेनिस का बांका' और 'प्रिय प्रवास'। सरल से सरल हिन्दी पर उनका अधिकार था—देखिये 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' तथा बालकों के लिये लिखी गई कवितायें। वे मुहावरेदार भाषा के माहिर थे—देखिये उनके चौपदे। वे ब्रज भाषा और खड़ी बोली के समान रूप से श्रेष्ठ कवि थे। वे जहाँ मुक्तकों के सम्राट थे, प्रबन्ध की संयोजना में परम पटु थे। हिन्दी जगत ने दो बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाकर उनका समादर किया था। 'प्रिय प्रवास' पर उन्हें हिन्दी का श्रेष्ठतम पुरस्कार मंगला प्रसाद पारितोषिक मिल चुका है।

आरा नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान किया था। साहित्य सम्मेलन ने उन्हें साहित्य वाचस्पति तथा भारत धर्म महामण्डल ने साहित्य रत्न की उपाधि से विभूषित किया था। हिन्दी संसार तो उन्हें 'कवि सम्राट' नाम से सम्मानित ही करता है।

महाकवि श्री हरिऔध का देहावसान ६ मार्च सन् १९४७ ई० को ८२ वर्ष के परिपक्व वय में होली के दिन उनके घर पर हुआ।

—केशवदेव उपाध्याय

हरिऔध-रचित

ग्रन्थों की तालिका

नाटक

१	रुक्मिणी परिणय	रचित
२	प्रद्युम्न विजय व्यायोग	,,

उपन्यास

३	ठेठ हिन्दी का ठाठ	रचित
४	अधखिला फूल	,,
५	वेनिस का बाँका	अनुवादित
६	कृष्णकान्त का दान पत्र	,,
७	रिपवान विंकल	,,
८	प्रद्युम्न पराक्रम	रचित

नीति ग्रन्थ

९	नीति निबन्ध	अनुवादित
१०	उपदेश कुसुम	,,
११	विनोद वाटिका	,,
१२	चरितावली	,,

व्याख्यान माला

१३	उद्बोधन	रचित
१४	साहित्य सम्मेलन सम्बन्धी भाषण	,,
१५	सनाढ्य महामंडल ,, ,,	,,
१६	गोरक्षा सम्बन्धी भाषण	,,
१७	साहित्य सम्मेलन प्रदर्शनी	,,

गणित ग्रन्थ

१८	अंकगणित	रचित

साहित्य ग्रन्थ

१९	कबीर वचनावली	संग्रह ग्रन्थ
२०	चारुचयन	,,
२१	रस, साहित्य और समीक्षायें	रचित

पद्य ग्रन्थावली

२२	प्रेम प्रपंच	रचित
२३	प्रेमाम्बु वारिधि	,,
२४	प्रेमाम्बु प्रवाह	,,
२५	,, प्रस्रवण	,,
२६	काव्योपवन	,,
२७	प्रेम पुष्पोपहार	,,
२८	बाल विलास	,,
२९	पद्यप्रमोद	,,

३०	चाँदसितारे	रचित
३१	खेल तमाशा	,,
३२	पद्य प्रसून	,,
३३	फूल पत्ते	,,
३४	कल्पलता	,,
३५	प्रिय प्रवास	,,
३६	बोल-चाल	,,
३७	चोखे चौपदे	,,
३८	चुभते चौपदे	,,
३९	रस कलस	,,
४०	हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास	,,
४१	अच्छे अच्छे गीत	,,
४२	उपहार	,,
४३	अजीब उलझन	,,

संग्रह ग्रन्थ

४४ से ४८	बालपोथी ५ भाग	संग्रह ग्रन्थ
४९ से ५२	वरनाक्यूलर रीडर ४ भाग	,,
५३ से ५७	मध्यहिन्द हिन्दी रीडर ५ भाग	,,
५८	स्वर्ग संगीत	,,

—::००::—

राष्ट्र निर्माणकारी साहित्य के निर्माता 'हरिऔधजी'

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद

मैं मानता हूँ, किसी भी देश की तब तक उन्नति नहीं हो सकती, जब तक उस देश की उन्नति के काय में साहित्य का आश्रय न लिया जाय। जब तक साहित्य न हो——ऊँचा साहित्य, मनुष्यों के भावों को ऊपर उठाने वाला साहित्य न हो, तब तक कोई भी देश अपनी उन्नति नहीं कर सकता। अन्य देशों की उन्नति के इतिहास में उन देशों के उन्नत साहित्य का हाथ अधिक रहा है। इसलिये साहित्य की उन्नति राष्ट्र की उन्नति है। राष्ट्र को साहित्य से आप अलग नहीं कर सकते। शरीर से प्राण के अलग होने पर शरीर मिट्टी है और प्राण को कोई देख नहीं सकता।

आज देश में जो नवजीवन देखने को मिलता है, उसमें साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है। राष्ट्र-हित के लिये, देश-हित के लिये, साहित्यकार सदा से रहते आये हैं और रहेंगे। जो इच्छा-आकांक्षा को, देश के दिल के दर्द को प्रकट करता है, जो देश को ऊपर उठाता है——

कर्त्तव्य पथ की ओर अग्रसर करता है, वह उन्नत साहित्य है। साहित्य के हाथों में देश को बनाने और बिगाड़ने का काम है। उन्नत साहित्य वही है, जो देश को नीचे गिराने से बचावे। जो साहित्य मनुष्य को ऊपर ले जाने वाला है, उस साहित्य के निर्माता संसार में अमर होते हैं। आज का हिन्दी साहित्य दिनों-दिन प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहा है। महीने-महीने नये-नये ग्रन्थ छपते हैं। छापेखानों से साहित्य में सस्तापन आ गया है; पर जहाँ इन छापेखानों से अच्छी से अच्छी चीजें हमें मिली हैं वहाँ बुरी से बुरी चीजें भी हमें मिल रही हैं। सुन्दर और सस्ती चीजों से हमें लाभ हुआ है, तो गन्दी चीजों से हमारी हानि भी कम नहीं हुई है। जो साहित्यिक हों, उनका कर्त्तव्य है कि वे ऐसे साहित्य का निर्माण करें जो व्यक्ति और राष्ट्र को ऊपर उठावे। वे अपनी लेखनी के मुंह से ऐसे रत्न निकालें जो मनुष्य को अधोगति की ओर जाने से रोकें। पूज्य कविवर जी जिनकी सेवा के लिये, आदर प्रदर्शन के लिये हम आये हैं, उनका जीवन ऐसे ही साहित्य के निर्माण में लगा है—आपने ऐसे साहित्य की रचना की है, जिससे देश को ऊपर उठने में बहुत कुछ सहायता मिली है और आप की यह सेवा एक साल दो साल की ही नहीं है, वह आजीवन सेवा है। किसी लालच से नहीं, किसी आकांक्षा से नहीं बल्कि सेवा को

ही अपनी सेवा का पुरस्कार समझ कर आपने सेवा-व्रत का पालन किया है। आप उस समय से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं जिस समय आप लोगों में अधिकांश का जन्म भी नहीं होगा, हिन्दी के सेवा-क्षेत्र में न आने की बात तो निश्चित ही है।

आज इस वृद्धावस्था में भी कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब आपके दिल और दिमाग़ से कोई ऐसी बात न निकलती हो जिससे देश की सोयी हुई भावनाओं के जगने में मदद पहुँचे। आप जैसे राष्ट्र-निर्माणकारी साहित्य के निर्माता का आदर कर मैं अपना गौरव बढ़ा रहा हूँ। नागरी प्रचारिणी सभा को बधाई है कि उसने इस समारोह को इकट्ठा किया, साहित्यिक भाइयों को इस समारोह में उपस्थित होने का अवसर दिया। हरिऔध जी का इससे भी बढ़ कर समादर यह है कि जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसको हम कम से कम एक बार तो अवश्य देख जायँ। हम सब मिल कर इस बात को दिखला दें कि हम हरिऔध जी के पूजक हैं। इस काम में हम और किसी से कम नहीं हैं और वह तब हो सकता है जब हम उनकी रचनाओं को मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे।

मैं आपके लेखों के सम्बन्ध में, आपकी कविताओं के सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकारी नहीं हूँ। मैं तो दूर से भक्त की तरह उनके दर्शन किया करता हूँ और इसी में अपने

को धन्य समझता हूँ। आपकी रचना के समुद्र में डूब कर उसमें से रत्न निकालना मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। पर हाँ, एक बात मैं यह कह देना चाहता हूँ कि जो सुन्दर शब्दावली के साथ ऊँचे भावों का समावेश देखना चाहते हों, वे उपाध्याय जी के ग्रन्थों को पढ़ें; जो हिन्दी के द्वारा संस्कृत सीखना चाहें, वे भी हरिऔध जी की रचनाएँ देखें और जो पुरानी चीजों को नये रंग रूप में देखना चाहते हैं, वे भी उपाध्याय जी की पुस्तकें पढ़ें; जो नयी चीजों को पुराने रूप रंग में देखना चाहते हों, वे भी उपाध्याय जी की रचनाएँ पढ़ें।

[नागरी प्रचारणी सभा, आरा द्वारा आयोजित हरिऔध अभिनन्दनोत्सव (१९३७ ई०) पर दिये गये भाषण का अंश।]

हरिऔध-साहित्य पर

लोक-मत

"महाकाव्य के विषय में कुछ कहना छोटे मुँह बड़ी बात है। इसकी रचना करके आप 'खड़ी बोली' के 'जनक' के उच्चपद पर आसीन हुए हैं। जिस भाँति बाबू हरिश्चन्द्र 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' के जनक कहलाये, उसी भाँति खड़ी बोली की कविता के विषय में आपका स्थान है।

"प्रिय-प्रवास" को पढ़ते-पढ़ते आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है। चरित्र-चित्रण की महत्तापूर्ण कुशलता, प्राकृतिक दृश्यों एवं ऋतुओं के वर्णन की उत्तमता, कर्त्तव्य-पालन, स्वजाति और स्वदेश एवं देशोद्धार के लिए जीवन उत्सर्ग करने की दृढ़ता, निर्भीकता, गुरुता, प्रेम-भक्ति और योग की उपयोगिता की सुव्याख्यामयी गंभीरता इस महाकाव्य की महोच्चता की सामग्री हैं। यह महाकाव्य अनेक रसों का आवास, विश्व-प्रेम-शिक्षा का विकास, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम का प्रकाश, एवं भारतीय वीरता, धीरता, गंभीरतापूरित स्वधर्मोद्धार का पथ प्रदर्शक काव्यामृतोच्छ्वास है।

नयी शैली में जो सरस रचना भाव लख के।
विरोधी हैं भारी प्रकट उसके वे कर कृपा ।।
पढ़ें आ हाथों में अनुपम महाकाव्य यह ले।
भ्रमों को स्वीकारें निज निज तजैं व्यर्थ हठ को ।।
न भाषाधीना है कवि-कृति-कला की सरसता।
करों में ही भाषा-रस-मधुरिमा योग्य कवि के ।।
इसे जो हे भाई तुम असतसा बोध करते।
पढ़ो ले हाथों में तब प्रियप्रवासामृत कथा ।।

उपाध्याय जी में लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल है। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण ब्रज के रक्षक-नेता के रूप में अंकित किये गये हैं। खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में है। उपाध्याय जी का संस्कृत पदविन्यास बहुत ही चुना हुआ और काव्योपयुक्त होता है।

यह काव्य अधिकतर वर्णनात्मक है। वर्णन कहीं-कहीं बहुत मार्मिक हैं, जैसे, कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली के भीतर जो भाव की धारा अनेक बल खाती, बहुत दूर तक लगातार चली चलती है, उसमें पाठक अपनी सुध-बुध के साथ कुछ काल के लिए मग्न हो जाता है।

—पं० रामचन्द्र शुक्ल

खड़ी बोली में ऐसा सुन्दर, प्रशस्त, काव्य-गुण-सम्पन्न और उत्कृष्ट काव्य आज तक दूसरा निकला ही नहीं। हम इसे खड़ी बोली के कृष्णकाव्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कह सकते हैं। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक तथा रसपूर्ण है। वर्णन-शैली बड़ी ही चोखी और चुटीली है। भावानुभावादि का भी

अच्छा मार्मिक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। कला-कौशल और अलंकार-वैचित्र्य भी स्तुत्य है। इसी एक काव्य से उपाध्याय जी खड़ी बोली के कवि-सम्राट होकर अमर हो गये हैं; साथ ही खड़ी बोली का काव्य भी इसी से गौरवान्वित हुआ है। अतुकान्त शैली के सफल तथा स्तुत्य प्रवर्त्तक हम हिन्दी क्षेत्र में हरिऔध जी को ही मान सकते हैं।

आप खड़ी बोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कवि-सम्राट, मर्मज्ञ, ठेठ हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा बोल-चाल की भाषा के विशेषज्ञ माने जाते हैं। आप सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की साहित्यिक भाषा के सिद्धहस्त लेखक एवं कवि हैं। खड़ी बोली के विविध रूपों तथा उसकी शैलियों पर आपका पूरा अधिकार है। मुहाविरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग में आप पूर्ण पटु-पंडित हैं। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में औपन्यासिक कला-कौशल तो उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना भाषा एवं रचना कौशल है, परन्तु इनके साथ यदि 'वेनिस का बाँका' रखा जाय तो यही कहना पड़ता है कि उपाध्याय जी को हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

वे न केवल कवि-सम्राट ही हैं, वरन् लेखक-सम्राट भी हैं। यदि एक ओर वे उच्च कोटि की संस्कृतप्राय भाषा लिख सकते हैं तो दूसरी ओर सरलातिसरल ठेठ हिन्दी भी।

—शुक्ल 'रसाल'

"खड़ी बोली के उस काल के कवियों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की काव्य-साधना विशेष महत्व की ठहरती है। सहृदयता और कवित्व के विचार से भी ये अग्रगण्य हैं, परन्तु संस्कृत के वृत्तों तथा प्रचलित समस्त पदों के प्रयोग की प्रथाएँ भी नहीं छोड़ सके। इनके समस्त पद औरों की तुलना में अधिक मधुर ह

जो इनकी कवित्व-शक्ति के ही परिचायक हो जाते हैं। इनकी यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि ये हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। खड़ी बोली, उर्दू के मुहाविरे, ब्रजभाषा, कठिन, सरल, सब प्रकार की कविता की रचना कर सकते हैं और सब में एक अच्छे उस्ताद की तरह ये सरल चित्त से सब की बातें सुन लेते हैं। इनके समय, स्थिति और जीवन पर विचार करने पर कवित्व का कहीं पता भी नहीं मिलता, पर ये महाकवि अवश्य हैं। हिन्दू-कुल की प्रचलित ब्राह्मण प्रथाओं पर विश्वास रखते हुए, अपने आचार-विचारों की रक्षा करते हुए, नौकरी पर रोज हाजिर होते हुए भी ये सरल, सरस कवि ही बने रहे। कवि की जो उच्छृङ्खलता उसकी प्रतिभा के उन्मेष के कारण होती है वह इनमें नाम के लिए भी नहीं है, परन्तु नौकरी करते हुए भी ये प्रतिभाशाली कवि ही रहे। हिन्दी भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार है।

—पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' के सफलतापूर्ण प्रकाशन के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है। आप कृपा करके पं० अयोध्या सिंह से कहिये कि मुझे इस बात का बहुत हर्ष है कि उन्होंने सफलता के साथ यह सिद्ध कर दिया कि बिना अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किये ललित और ओजस्विनी हिन्दी लिखना सम्भव है।

—डा० ग्रियर्सन

'अधखिला फूल' कल हमने रात को पढ़ा। बहुत दिनों से उपन्यासों का पढ़ना छोड़ दिया था, पर इसलिये कि आपने इसे हमारे पढ़ने के लिए भेजा था, हमने पहिले बेगार-सा शुरू किया; समझा था कि भूमिका भर पढ़कर रख देंगे। पहली पंखड़ी के प्रथम

पृष्ठ की भाषा ने हमको मोह लिया और किताब न छोड़ी गयी। ज्यों-ज्यों पढ़ते गये त्यों-त्यों आगे बढ़ते गये। रात को देर तक पढ़ते रहे; समाप्त हो जाने पर पुस्तक छूटी और मन में यह चाह रह गयी कि देवहूती और देवस्वरूप का हाल कुछ और पढ़ते। पुस्तक शुरू से आखीर तक एक स्टाइल में लिखी गयी है। हम कह सकते हैं कि ऐसा उत्तम उपन्यास हिन्दी में दूसरा नहीं है। हम आपको बधाई देते हैं।

—काशीप्रसाद जायसवाल

"हम हृदय से प्रिय-प्रवास का साहित्यिक क्षेत्र में स्वागत करते हैं, और उसके रचयिता श्री पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को अतुकान्त छन्दों में इस महाकाव्य के लिखने में उनकी सफलता के लिए बधाई देते हैं। अतुकान्त छन्दों में कविता रचने का हिन्दी में यह पहला ही प्रबल प्रयत्न है, और हम यह कहने का साहस करते हैं कि तुकान्त काव्य के इतिहास में कवि चन्द बरदायी का जो स्थान है, और हिन्दी गद्य में जो गौरव लल्लूलाल जी को प्राप्त है, वही स्थान और वही गौरव श्रीयुत पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय को प्रिय-प्रवास की बदौलत अतुकान्त काव्य की गाथा में उस समय तक दिया जायगा जब तक हिन्दी साहित्य में नवीनता और सजीवता का आदर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य में 'प्रिय-प्रवास' ने एक महत्वपूर्ण नवीन युग का प्रारम्भ किया है। इसने हिन्दी की सजीवता और सबलता प्रमाणित कर दी, और उसको संसार के जीते-जागते साहित्य की श्रेणी में उच्च स्थान अब मिलेगा।

युग-परिवर्तन करने का अपूर्व विशेषण हम 'प्रिय-प्रवास' के साथ क्यों लगाते हैं? इसलिये कि कविता खड़ी बोली में है? अथवा इसलिये कि उसमें काव्योचित विशेषताएँ मौजूद हैं? भाव की गम्भीरता या भाषा की मधुरिमा के लिए क्या हम उसकी इतनी

अधिक प्रशंसा कर रहे हैं ? उसकी भाषा बिलकुल निर्दोष नहीं है, क्योंकि उसमें शब्दों का बे-मेल जोड़ कहीं-कहीं खटकता है, और यद्यपि हम उसकी सरसता और अलंकारिक कुशलता का समुचित सत्कार करने के लिए उत्सुक हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में कोई कवि उपाध्याय जी की समता नहीं कर सकेगा। ऐसा नहीं है, हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि आगे चलकर हमारे साहित्यकारों में से बहुत से ऐसे भी निकलेंगे जो विश्वतोन्मुखी प्रतिभा और व्योमचुम्बिनी कल्पना से संसार के श्रेष्ठ कवियों की समता का मौर अपने उज्ज्वल मस्तकों पर बँधवायेंगे। हिन्दी साहित्य के पूर्ण विकास का द्योतक 'प्रिय-प्रवास' कदापि नहीं। वह तो केवल शताब्दियों की निशीथ-निशा के बाद उन्नति उषा का दिव्य दूत है; और साहित्य-दृष्टि से इस महाकाव्य का इसी में महत्व है। 'प्रिय-प्रवास' अतुकान्त छन्दों में हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है, इसका अर्थ यह है कि पुष्य कवि से लेकर उपाध्याय जी के पूर्व तक किसी भी हिन्दी कवि ने इस विस्तार के साथ अतुकान्त कविता नहीं रची। तुक की नकेल में बँधी हुई हमारी कविता 'कोमलकान्त-पदावली' की परिक्रमा करती रही। इस अस्वाभाविक और हानिकारक दासत्व तोड़ कर स्वच्छन्द विचरने का पहले-पहल साहस उपाध्याय जी ने किया।

—वेंकटेशनारायण तिवारी द्वारा 'अभ्युदय'

के अग्रलेख में प्रकाशित

'दिवस के अवसान समैं मिला।
'प्रिय-प्रवास' अहो ! प्रिय आपका ।।
अमित मोद हुआ चख चित्त को।
सरश स्वादुयुता कविता नयी ।।

कवि-वरेण्य ! अनूपम धन्य है।
सुरुचिरा रचना यह आपकी ।।
मधुरिमा मृदु मंजु मनोज्ञता।
सुप्रतिभा छवि पुंज प्रभामयी ।।
यह अवश्य कवे ! तव होयगी।
कृति महा कवि-कीर्ति प्रदायिनी ।।

—पं० श्रीधर पाठक

"हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी के क्षेत्र में जिन दो पुरुषों ने पदार्पण किया है उनके शुभ नाम हैं पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त। इन दोनों का कविता-काल प्रायः एक ही है; दोनों ने हिन्दी की खड़ी बोली की कविता को अपनाया और सफलतापूर्वक काव्य-ग्रन्थों की रचना की। दोनों ही देशभक्त तथा जातिभक्त आत्माएँ हैं। पर इतनी समानता होते हुए भी कविता की दृष्टि से उपाध्याय जी का स्थान गुप्त जी से ऊँचा है, ऐसा मेरा विचार है। इतना ही नहीं, मैं तो उपाध्याय जी को वर्तमान युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हूँ, और उनका स्थान कवित्व की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी उत्तम समझता हूँ। मैं उनकी तुलना बंगला के महाकवि मधुसूदन से करता हूँ, और सब मिलाकर 'मेघ-नाद-वध' काव्य से 'प्रिय-प्रवास' को कम नहीं मानता। बँगलावाले अपने मन में जो चाहें समझें, पर तुलनात्मक समालोचना की कसौटी में कस कर परखने से पता चलता है कि हमारी वर्तमान शैली की हिन्दी में भी ऐसे काव्य-ग्रन्थ हैं, जिनके मुकाबिले बंगला भाषा बड़ी मुश्किल से ठहर सकती है और कहीं-कहीं तो उसको मुँह की खाने तक की नौबत आ जाती है। ऐसे काव्य-ग्रन्थों में 'प्रिय-प्रवास' का उच्च स्थान है, यह प्रत्येक हिन्दीप्रेमी जानता है।

कविता में मनुष्य की संगीतप्रियता को भी प्रतिविम्बित होने का अवसर मिलता है। यह संगीत कविता का वाह्य आवरण है है जिसको धारण कर कविता-कामिनी सहृदयों को प्रहर्षित करने के लिए रंगमंच में प्रवेश करती है। परम्परागत प्रथा के अनुसार हिन्दी में वृत्त ही संगीत कहलाता रहा--छन्दोवद्ध तुकान्त रचना ही संगीत-पूरित कहाती है; परन्तु वर्तमान काल के महाकवि श्रद्धेय पं० अयोध्यासिह जी उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य में अतुकान्त छन्दों का प्रयोग कर एक नयी समस्या हिन्दी-भाषियों के सम्मुख रख दी है।

महाकवि के 'प्रिय-प्रवास' का पारायण करने वाले रसिक समुदाय सर्व सम्मति से उस ग्रंथ-रत्न को संगीतमय मानेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

--नन्ददुलारे वाजपेयी

"हमारे सम्मानित महाकवि हरिऔधजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने घोर असाहित्यिक वातावरण में रहकर अपने साहित्यिक जीवन को गौरवान्वित किया है।....

काव्य-साधना की जो संलग्नता इनमें देखी जाती है वह शायद ही किसी और बूढ़े कवि में देखी जा सके।

इनका महान व्यक्तित्व सर्वथा आडम्बर-शून्य है, ये निष्कपट, निर्लोभ और निरभिमानी तो हैं ही, साथ ही इनकी मिलनसारी भी बड़ी मधुर है। मिलने-जुलने वालों से ये कभी उकताते नहीं, उनके साथ भूल कर भी अप्रिय बर्ताव नहीं करते। अतिथि को सचमुच अपने घर का देवता मानते हैं। छोटा बड़ा, जो इनके पास पहुँच जाय उसे ये सम भाव से अपना लेते हैं। जो इनसे पहली ही बार मिलता है, वह यही अनुभव करता है, कि प्रेम ही इनकी प्राण-शक्ति है।

ऐसा कौन है जो इनके गंभीर मुख मण्डल तथा उन्नत ललाट को देखते ही यह न मान ले कि ये सत्यं शिवं सुन्दरम् की सृष्टि करने वाली प्रतिभा के प्राण-वल्लभ हैं।

--जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में उपाध्याय जी का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण रहेगा। वर्तमान हिन्दी कविता की धारा को चिर प्रचलित ब्रजभाषा की ओर से हटाकर खड़ी बोली की ओर प्रेरित करने में उपाध्याय जी ने उसी प्रकार का परिवर्तन उपस्थित कर दिया है जिस प्रकार प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने अंग्रेजी कविता में उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनके (वर्ड्सवर्थ के) लिरिकल वैलडस ने एक नये ढंग की कविताएँ जनता के सम्मुख रखी थीं, जिनकी भाषा में अभूतपूर्व सारल्य था और जो सबके लिये समान रूप में सुबोध थीं। 'उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' नामक भिन्न तुकान्त महाकाव्य उसी खड़ी बोली के परिष्कृत रूप में लिखकर 'वर्ड्सवर्थ' से भी बढ़कर असाधारण उथल-पुथल हिन्दी कविता में मचा दी थी, इसके सिवाय 'तिनका', 'आँसू' ऐसे साधारण विषयों पर भावपूर्ण कविता बनाकर उन्होंने इस बात का निराकरण कर दिया है कि किसी समय की बोलचाल की भाषा में उच्चकोटि के काव्य साहित्य का निर्माण नहीं किया जा सकता।

ठेठ भाषा में दो अपने ढंग के उत्तम उपन्यासों को निश्चित उद्देश्य से लिखकर उपाध्याय जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना खरे संस्कृत शब्दों अथवा उत्कृष्ट उर्दू की पदावली का सहारा लिये ही बोलचाल की भाषा में सजीव से सजीव गद्य लिखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने सदा के लिये हिन्दी गद्य का रुझान बोलचाल की ओर किया।

पं० अयोध्या सिंह जी स्वयं प्रायः संस्कृतमय गद्य लिखते हैं। कभी-कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु तब भी उनके वाक्यों में वह दुरूहता नहीं होती जो शायद पं० श्रीधर पाठक तथा पं० गोविन्दनारायण मिश्र की भापा में पाई जाती है। उनका वाक्यविन्यास भी सरल होता है। वे एक सरस-हृदय तथा उच्चकोटि के कवि हैं इसलिये उन्हें सरस भाषा में प्रेम है। यही कारण है कि उनके वास्तविक गद्य में संस्कृत पदा-

वली की अच्छी छटा रहती है। सच्चे कवि की भाँति गद्य लिखते समय भी उनकी भावुकता उन्हें झंकारपूर्ण कोमल कांत शब्दों का प्रयोग करने के लिये प्रेरित करती है।

उपाध्याय जी की संस्कृत गद्य शैली में जो सौष्ठव तथा जो विशदता है उसका श्रेय उनके काव्य कौशल को है। क्योंकि वे कवि पहले हैं और गद्य-लेखक उसके बाद। तभी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं है।

एक बात और है। "ठेठ" वाली भाषा को एक विशेष प्रकार के सोद्देश्य गद्य का उदाहरण मानकर अलग रखिये और उनके साधारण प्रकार के गद्य पर विचार कीजिये तो ज्ञात होगा कि उसमें गम्भीरता है, हास्य और व्यंग्य उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। इसी दृष्टि से पं० अयोध्यासिंह जी को संस्कृत शैली के गद्य-लेखकों में रखना चाहिये।

—रमाकान्त त्रिपाठी

'साहित्यरत्न' पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय कैसे काव्यकला-कुशल, शब्द-शिल्पी, सत्कवि और सुलेखक हैं—यह हिन्दी-संसार विशेष रूप से जानता है। आपका पाण्डित्य प्रगाढ़, बुद्धि तीक्ष्ण, विचार उत्तम, कवित्व-शक्ति निस्सीम और प्रतिभा अप्रतिहत है। हिन्दी तो आपकी अनुगत-सी ज्ञात होती है। आप उसे जिस साँचे में ढालना चाहते हैं ढाल देते हैं। कोई भी मर्मज्ञ पाठक हिन्दी-संसार में नवयुग के प्रवर्तक और नयी-नयी सृष्टि के स्रष्टा उक्त उपाध्याय जी के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' से सरस और शिक्षाप्रद उपन्यास, 'प्रियप्रवास' सा महाकाव्य और इन ग्रंथों की तथा उपाध्याय जी की संकलित 'कबीर वचनावली' की विवेक और पाण्डित्यपूर्ण शत-शत पृष्ठ से भी अधिक भूमिका पढ़ कर मेरी इन उक्तियों को अत्युक्तियों में परिणत नहीं करेगा। आपकी प्रशंसा मुक्त कंठ से, क्या देशी और क्या विदेशी, सभी साहित्य-सेवियों ने की है। आपकी गणना महाकवियों में होती है।'

—रामदहिन मिश्र

"उपाध्याय जी पूरे शब्द-शिल्पी हैं। आपके एक-एक शब्द चुने-चुनायें, नपे-तुले होते हैं। जहाँ आपने केवल संस्कृत की ही कविता की सरिता बहाई है, वहाँ भी उस सरिता-स्रोत पर भी आपकी सुन्दर शब्द-तरंग-माला अठखेलियाँ करती देख पड़ती है।

आपको देखकर उस स्वर्ण युग के आदर्श ब्राह्मणों की याद आ जाती है। आपकी विद्वत्ता, सादगी, निर्लोभिता, धर्मपरायणता आदि गुणों को देखकर ब्राह्मणत्व का एक स्पष्ट चित्र आँखों के निकट खिंच जाता है। आपकी विद्वत्ता अथाह है, अध्ययनशीलता अनुकरणीय है, सादगी सराहनीय है, धार्मिकता धारणीय है और निःस्पृहता अभिनन्दनीय है।

काव्य-चर्चा ही आपका व्यसन है। कविता ही आपकी सहचरी है। इन पंक्तियों के लेखक को जब जब आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब तब इसने आपको कविता ही के बीच में बैठे पाया है।

इनका उन्नत ललाट इनकी प्रतिभा का द्योतक है। गंभीर मुख मंडल सदाचारिता का सूचक है। एक दुबले पतले शरीर में एक हृष्ट-पुष्ट आत्मा का विनोद-विलास इन्हीं को देखने पर दीख पड़ता है।

निर्लोभता की चर्चा पहिले हो चुकी है। इस युग में—इस रुपये पैसे के युग में—आपने रुपयों को पैरों से ठुकराया है। आप अपनी कवित्व शक्ति द्वारा बहुत कुछ उपार्जन कर सकते थे।

किन्तु सरस्वती का क्रय-विक्रय करना आपको पसन्द नहीं। आपने अपनी कृतियों को, जिसने माँगा उसे ही, उदारता पूर्वक मुफ्त दे दिया।

आप छोटे बड़े सभी आगन्तुकों से बड़े प्रेम से, दिल खोलकर मिलते हैं। अभिमान आपको छू नहीं गया है, आपका सीधापन देखकर दंग रह जाना पड़ता है। अतिथि सत्कार शायद आपके ही पल्ले में पड़ा है।

—रामवृक्ष बेनीपुरी

हरिऔध की रस-साहित्य-समीक्षाएँ

हरिऔध जी हिन्दी जगत् में उस समय आये जब प्राचीन और नवीन युग में संधि हो रही थी। यद्यपि नवीन युग की नींव भारतेन्दु ने रख दी थी तो भी गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा मात्र ही उनके समय में हो सकी। यद्यपि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली में रचना-लेखन आरम्भ हो चुका था तो भी काव्य के लिए ब्रज भाषा की ही पूर्ण प्रतिष्ठा थी। खड़ी बोली के लिए केवल आन्दोलन मात्र चल रहा था। सर्वप्रथम हरिऔध जी ने अपना प्रयोगात्मक रूप साहित्य के सम्मुख उपस्थित किया। जिस समय हरिऔध जी साहित्य रचना के क्षेत्र में आये उस समय अनेक जाने-माने साहित्यकार साहित्य के सभी क्षेत्रों में अपनी रचनाएँ उपस्थित कर रहे थे।

हरिऔध जी की रचनाओं को काल-क्रम की दृष्टि से दो अंशों में विभक्त कर देना अनुचित न होगा। बीसवीं शताब्दी के पूर्व उन्होंने तत्कालीन ढंग का कार्य साहित्य के क्षेत्र में किया।

उस समय हरिऔध जी ने रुक्मिणी परिणय, प्रद्युम्न विजय व्यायोग नामक नाटक लिखा, और भाषा की शक्ति-प्रदर्शन के लिए

वेनिस का बाँका (अनुवाद) तथा ठेठ हिन्दी का ठाट और अधखिला फूल लिखा। ये कृतियाँ उनकी शब्द-अधिकार की आख्याधिकाएँ हैं। बीसवीं शताब्दी में लिखा गया उनका साहित्य विशेष महत्व का है।

बीसवीं सदी (ईसा) के आरम्भ में एक नयी सामाजिक चेतना की जाग्रति भारतवर्ष में हुई। काँग्रेस से देश में राष्ट्रीय तत्वों को बल मिलने लगा। बंग-भंग और होमरूल आन्दोलन नयी स्फूर्ति जगाने में सफल हुए। लोगों के भीतर नया आत्मबल, नयी स्फूर्ति और स्वतन्त्रता के लिए नयी चेतना जाग्रत होने लगी। क्रान्तिकारी वीर युवकों के समय-समय पर किये गये साहसिक कार्यों की प्रतिक्रिया लोगों के मन पर नयी चेतना बनकर छा गयी। आवागमन के साधन, जो अंग्रेजों के शासन को दृढ़ करने के प्रमुख उपकरण समझे गये थे, वे ही समस्त भारत में बिखरे विशाल जनसमूह को एक आदर्श, एक भावना और एक आवश्यकता--स्वतन्त्रता के लिए एक सूत्र में बाँधने लगे। देश में पत्र-पत्रिकाओं के व्यापक प्रसार तथा काँग्रेस के संगठन ने लोगों में जान फूँक दी। विदेशी के बायकाट और स्वदेशी आन्दोलन से जनता को बड़ा बल मिला।

हिन्दी के प्रसार और प्रसार का आन्दोलन भी व्यापक रूप ग्रहण करने लगा।

भारतेन्दु-युग की रचना

भारतेन्दु-युग में ही गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का आधिपत्य स्थापित हो चुका था, पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक काव्य के क्षेत्र में ब्रज और खड़ी बोली के प्रश्न पर विद्वानों में मतान्तर चलता रहा। यद्यपि भारतेन्दु मंडल के प्रायः सभी कवियों ने प्रयोग रूप में खड़ी बोली में रचनाएँ कीं, तो भी वे अपनी असफलता को

खड़ी बोली के मत्थे मढ़ते रहे। वे मान बैठे थे कि खड़ी बोली में काव्य की सृष्टि हो ही नहीं सकती। जो लोग खड़ी बोली में काव्य-रचना के पक्षपाती थे, उनकी भर्त्सना इस मंडल के अनेक सदस्यों ने समय-समय पर की और एक बहुत बड़ा विवाद इस प्रश्न पर छिड़ा। पर जीत खड़ी बोली की ही रही। खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का प्रयत्न प्रमुख रूप से सर्वश्री श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद, नाथूराम शंकर शर्मा आदि ने किया। खड़ी बोली के प्रति उनकी सतत निष्ठा का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में नवागत खड़ी बोली में रचना करने के लिए लोग परिकर बद्ध हुए। कभी कभी फिर भी विरोध के दर्शन हो ही जाते थे।

काव्य में खड़ी बोली की प्रगति की कहानी 'सरस्वती' के प्रकाशन से आरम्भ होती है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी सरस्वती द्वारा प्रारम्भिक दशा की खड़ी बोली को काव्य का रूप देने के लिए प्रयोगकर्ता के रूप में दीख पड़ते हैं।

यद्यपि भारतेन्दु कालीन साहित्य में शृंगार काल की विलासपूर्ण भाव-धारा के प्रति विद्रोह का स्पष्ट आभास मिलता है, सामाजिक पतन से निवृत्ति के लिए उस युग का भावशिल्पी विह्वल दीख पड़ता है, धार्मिक एवं दार्शनिक मनोवृत्तियों में भी नव संस्कार-युक्त मानवीय चेतना के दर्शन होते हैं, तो भी उस युग का काव्य सामाजिक चेतना से अनुप्राणित खण्डनात्मक-मण्डनात्मक अधिक है और उसमें गद्य से भी अधिक नीरसता है। देश-दुर्दशा, विधवा-विवाह, बाल विवाह आदि काव्य के नये सामाजिक उपकरण, १९वीं शताब्दी में ही बन चुके थे। अनैसर्गिक मानवेतर कामुक भावनाओं से हिन्दी काव्य का पिंड छूटा, पर खड़ी बोली अपने मनोभावों के उद्गार भाषा की असम्पन्नता के कारण पूर्ण रूप से व्यक्त करने में सर्वथा जीवनविहीन दीखती थी।

तब तक अनेक सशक्त कवि इस क्षेत्र में आ चुके थे जिनकी प्रथम दशक की खड़ी बोली की रचनाओं में निष्प्राण काव्य तत्वों का दर्शन स्पष्ट लक्षित होता है, पर उनमें काव्य की नयी चेतना का उद्रेक निश्चित रूप से दृष्टिगत भी होता है। वह है १९ वीं सदी की प्रतिक्रियामूलक ध्वंसात्मक भावनाओं का सर्जनात्मक परिधान धारण करना। काव्य में भावप्रवणता की मात्रा बढ़ती दीख पड़ती है।

खड़ी बोली काव्य में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दर्शक में छोटी-छोटी प्रबन्ध की रचनाओं, अनुवादों आदि के अतिरिक्त श्री मैथिली-शरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' प्रकाशित हो चुका था। पर तब तक के सभी प्रयोग अर्द्ध सफल ही माने जा सकते हैं। ऐसी ही प्रयोगात्मक स्थिति के बीच हरिऔध जी का 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी संसार के सम्मुख आया। प्रिय-प्रवास का प्रकाशन खड़ी बोली के काव्य के इतिहास की एक घटना है जो खड़ी बोली के विरोधियों के लिए चुनौती बनकर आयी। अपनी भूमिका में हरिऔध जी स्वयं लिखते हैं कि... "मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है, बने या न बने, सेवा प्रणाली सुखद या हृदयग्राहिणी होवे या न होवे, परन्तु एक लालायित चित्त अपनी लालसा को पूरी किये बिना कैसे रहे ?"

"यदि स्वान्त : सुखाय मैं ऐसा कर सकता हूँ तो अपनी टूटी-फूटी भाषा में एक हिन्दी काव्य गन्थ भी लिख सकता हूँ, निदान इसी विचार के वशीभूत होकर मैंने 'प्रिय प्रवास' नामक काव्य की रचना की है।" **—प्रिय-प्रवास की भूमिका पृष्ठ १.**

"प्रिय प्रवास के बन जाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य की न्यूनता दूर हो गयी है" **—प्रिय-प्रवास भूमिका पृष्ठ २.**

"इस समय खड़ी बोली में कविता करने से अधिक उपकार की आशा है। इसलिये मैंने भी 'प्रिय प्रवास' को खड़ी बोली ही में लिखा है।" **—भूमिका पृष्ठ २९ :**

प्रायोगिक अवस्था का प्रबन्ध काव्य होने पर भी तत्कालीन प्रबन्ध काव्यों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। सभी दृष्टियों से यह प्रबन्ध काव्य समय से अत्यन्त आगे था। यदि यह कहा जाय कि 'कामायनी' के प्रकाशन के पूर्व तक अपने ढंग का यह महत्वपूर्ण मौलिक प्रबन्ध काव्य है तो अत्युक्ति न होगी।

प्रिय प्रवास ने इस क्षेत्र में मानववादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर नयी चेतना का उद्बोध कराया। प्रिय प्रवास के पूर्ववर्ती साहित्यिक अभियान में ब्रजभाषा के काव्य की एक छिन्न धारा का दर्शन निश्चय ही होता है, किन्तु तब तक खड़ी बोली की पूर्ण प्रतिष्ठा हिन्दी में हो चुकी थी। प्रिय प्रवास ने प्रबन्ध काव्यों के क्षेत्र में एक नयी दिशा का संकेत किया।

हरिऔध जी वास्तव में अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। इन दो दर्शकों में उनकी प्रतिष्ठा हिन्दी जगत् में इसी रूप में हुई। यद्यपि भाषा की दृष्टि से उनके प्रियप्रवास में कहीं-कहीं ब्रज भाषा का प्रभाव दृष्टिगत होता है, पर खड़ी बोली के प्रबन्ध काव्यों के विकास में उसकी महत्ता आज भी अक्षुण्ण बनी है। इस भाँति बीसवीं सदी के प्रथम दो दशक में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि हरिऔध हुए। उनकी शैली पर लोगों ने रचनाएँ कीं तथा अभी तक 'अनूप' जैसे विख्यात कवि उनकी शैली पर चल रहे हैं। हरिऔध जी पहले ब्रजभाषा में रचना किया करते थे, किन्तु उनका विशेष महत्व हिन्दी में प्रिय प्रवास के प्रकाशन द्वारा सं० १९७१ द्वारा स्थापित हुआ। यद्यपि हिन्दी काव्य के चिरपरिचित नायक कृष्ण को उन्होंने अपने काव्य का नायक बनाया है, तो भी युग की व्यापक आकांक्षाओं को उन्होंने प्रतिष्ठित किया। यद्यपि समस्त काव्य कृष्ण के 'प्रवास' के समय के सम्बन्ध में उनके प्रेमियों द्वारा व्यक्त की गयी अभिव्यक्ति है तो भी उनके कृष्ण रीतिकाल के छलिया कृष्ण

नहीं, अपितु लोकनायक कृष्ण हैं। प्रिय प्रवास में कृष्ण के सम्बन्ध में घटी अनेक घटनाओं का, जो लोक में प्रचलित हैं, उन्होंने वर्णन किया है। यह वर्णन भी स्मृति के द्वारा उनके विरहाकुल प्रेमियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। पर सर्वत्र कवि ने समाज की वर्तमान परिस्थिति तथा जाग्रति का ध्यान रखा है। उनकी राधा भी लोक-सेविका राधा हैं, न कि रीतिकाल की कामुक कवियों की नायिका राधा। सामाजिक तत्वों का इतना बड़ा परिनिवेष्टन निश्चय ही प्रबन्ध के क्षेत्र में प्रिय प्रवास को भावना की दृष्टि से अत्यन्त उच्च स्तर पर रखता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट है कि यह कृति सामाजिक चेतना जगाने की अपेक्षा साहित्यिक निर्माण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह खड़ी बोली का प्रारम्भिक काव्य होते हुए भी ऊँचाई में समय से बहुत आगे था।

महाकाव्य के प्रायः सभी वर्णित लक्षणों का प्रयोग भी इसमें मिलता है। नायक से लेकर छंदों तक में उसका आभास स्पष्ट लगता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रायः इसके प्रमुख चरित्र उच्चकोटि के अंकित किये गये हैं जिनमें राधा और कृष्ण का चरित्र तो स्मरणीय है।

'प्रिय प्रवास' के अधिकांश स्थल प्रवाहमय खड़ी बोली में लिखे गये हैं, भले ही कहीं मिठास लाने के लिए ब्रज भाषा के शब्द भी रख लिये गये हों। इनका दूसरा प्रमुख काव्य 'वैदेही वनवास' है। उपन्यासवाले प्रसंग में भाषा का जो नाटक इन्होंने किया, काव्य के क्षेत्र में भी ये उससे अलग नहीं।

बोलचाल की भाषा में इन्होंने मुहावरों का प्रयोग कर विभिन्न विषयों पर रचनाएँ कीं जिनमें चोखे चौपदे सं० १९८९ में प्रकाशित हुआ जो प्रचलित बोलचाल की भाषा में है। पद्य प्रसून, जिसमें दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं, सं० १९८२ में प्रकाशित हुआ।

'वैदेही बनवास' और 'परिजात' उनके अन्य ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्व के महाकाव्य हैं।

'हरिऔध जी के आलोचक तथा गद्यकार रूप को उनकी कविता ने दबा दिया। पर वे हिन्दी के विशिष्ट गद्यकार भी हैं।

हरिऔध जी ने गद्य के क्षेत्र में ४ प्रकार की रचनाएँ लिखी—

१. प्रारम्भिक-सर्जनात्मक साहित्य, २. आलोचना-साहित्य, ३. नीति तथा धर्म साहित्य, ४. सामयिक साहित्य।

धर्म-संस्कार तथा सामयिक विषयों पर लिखे गये निबन्धों की महत्ता भले ही न हो, पर गद्य के क्षेत्र में उनकी महत्ता ऐतिहासिक है।

१. गद्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम वे नाटक और उपन्यासकार के रूप में आये और उस समय आये जब हिन्दी में उनका आरम्भ हो रहा था। उपन्यास के द्वारा उन्होंने अपने पाण्डित्य से अपनी शब्द-शक्ति का परिचय हिन्दी जगत को दिया। उन रचनाओं का महत्व ऐतिहासिक क्रम विकास की दृष्टि से है, तथा जो बात गद्य के क्षेत्र में उस समय भी उपस्थित कर सके, वह उनकी शब्द-शक्ति का परिचायक है।

आलोचना के क्षेत्र में उनकी देन साहित्यिक निबन्धों का संकलन, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (बाबू राम दहेन सिंह, रीडर-शिप के सम्बन्ध में पटना यूनिवर्सिटी में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह) तथा पुस्तकों एवं ग्रन्थों की भूमिका के रूप में है।

वे काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक थे, साथ ही उनका पदार्पण साहित्य में जिस वातावरण और जिस काल में हुआ वह संधि का काल था, तो भी सतत नवीन दृष्टि से सामंजस्य-स्थापन का जैसा विस्तृत भाव उनमें दीख पड़ता है उतना अन्य किसी तत्कालीन लेखक में नहीं। वे सर्वप्रथम हिन्दी भाषा और

साहित्य के विकास के सम्बन्ध में निवेदन करना अप्रासंगिक न होगा। अभी तक प्रकाशित तत् सम्बन्धी ग्रन्थों में आकार की दृष्टि से ही उनका यह ग्रन्थ बड़ा नहीं है, अपितु इसकी ऐतिहासिक महत्ता भी है। वह यह कि हरिऔध जी स्वयं रससिद्ध कवि थे। उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक विभिन्न मान्यताओं पर तथा साहित्यकारों पर विचार कर अपना मन्तव्य स्थिर किया है। छायावाद जैसे नवीनतम तथ्य का समर्थन भी हरिऔध जी ने एक सीमा तक किया है। दूसरी बहुत बड़ी बात इस इतिहास में यह है कि उन्होंने आर्यों का आदि देश भारतवर्ष को ही माना है और उसे सिद्ध करने का भी एक सीमातक सफल प्रयत्न किया है। तीसरी बात इसके सम्बन्ध में यह है कि वर्तमान और पूर्ववर्ती कवियों को कवि ने जिस दृष्टि से देखा है उस दृष्टि की मान्यता स्वयं में अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है।

भूमिकाओं में भी हरिऔध जी ने रस कलस के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तृत भूमिका लिखी है। यद्यपि रस कलस की भूमिका लिखने में उन्होंने साहित्य दर्पण, रस गंगाधर आदि से पर्याप्त सहायता ली है, तो भी उनकी कुछ मान्यताएँ अपनी नयी हैं, तथा उन्होंने उन लोगों को बड़ा सजीव उत्तर दिया है जो शृंगार को अश्लील घोषित करते हैं, यद्यपि ब्रजभाषा में तत्कालीन कवि देश, जाति, मातृ-भूमि की उपेक्षा कर प्राचीन परिपाटी पर ये रचनाएँ कर रहे थे! उनको उन्होंने इस रचना को उदघोषित किया है। इस सम्बन्ध में स्वयं उन्होंने लिखा है, "आज तक जितने 'रस ग्रंथ' बने हैं उनमें शृंगार रस का ही अपना विस्तार है, और अन्य रसों का वर्णन नाम मात्र है। इसके अतिरिक्त संचारी भावों के उदाहरण भी प्रायः शृंगार रस के ही दिये गये हैं, ऐसा न करके अन्य विषयों का उदाहरण भी उसमें होना चाहिये था। 'रसकलस' में इन सब बातों

का आदर्श उपस्थित किया गया है और बतलाया गया है कि किस प्रकार अन्य रसों के वर्णन का विस्तार किया जा सकता है, और कैसे जाति, देश और समाज-संशोधन संबंधी विषयों को उनमें और संचारी भावों में स्थान दिया जा सकता है। इस ग्रंथ में देश-प्रेमिका, जातिप्रेमिका और समाजप्रेमिका आदि नाम देकर कुछ ऐसी नायिकाओं की भी कल्पना की गयी है, जो बिलकुल नयी है, परन्तु समाज और साहित्य के लिएँ बड़ी उपयोगिनी है। इस समय देश में जिन सुधारों की आवश्यकता है, जिन सिद्धान्तों का प्रचार वांछनीय है, उन सबों पर प्रकाश डाला गया है, और उनके सुन्दर साधन भी उसमें बतलाये गये हैं।"

इस दृष्टि से तथा शास्त्रीय दृष्टि से रस कलस की महत्ता पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने इस शब्दों में व्यक्त की है—

"रसकलस में हरिऔध जी ने जो विचारपूर्ण भूमिका लगा दी है उससे रस के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है। अन्त में यही कहना पड़ता है कि ब्रजभाषा की काव्य-परम्परा का अत्यन्त पूर्णता पर पहुँचा हुआ रूप दिखाकर हरिऔध जी ने एक बार फिर शिक्षित समाज को उसकी ओर आकर्षित कर लिया है।"

डा० बड़थ्वाल के ये अंश भी कम विचारणीय नहीं हैं—

"उपाध्याय जी का हिन्दी की विभिन्न बोलियों और शैलियों पर जो अधिकार है उसका अन्यत्र दर्शन दुर्लभ है। ग्रामीण उच्चारण युक्त ठेठ हिन्दी, साधारण बोलचाल, साधु साहित्यिक खड़ी बोली, उसी का संस्कृत संपृक्त स्वरूप, अवधी, ब्रजभाषा, सब उनके संकेत पर नाचती सी दीखती हैं। किसी भी प्रकार की शैली अथवा बोली में लिखने के लिएँ उन्हें अपनी शक्तियों का विशेष प्रयत्न पूर्वक आवाहन नहीं करना पड़ता।"

"इसमें भी सन्देह नहीं कि रसकलस लक्षण ग्रन्थ है। उसमें जो परिभाषाएँ तथा लक्षण लिखे गये हैं उनका अत्यन्त परिश्रम और सावधानी से संग्रह किया गया है, परन्तु मेरी आँखों में उसका मूल्य लक्षण ग्रन्थ होने में नहीं, बल्कि काव्य ग्रन्थ होने में है। लक्षणों का महत्व तो केवल प्रसंग की सूचना देने भर में है। उपाध्याय जी के कवि हृदय ने मानव हृदय को विभिन्न परिस्थितियों में देखा है। उनकी वाणी में हम मनुष्य की सूक्ष्म भावनाओं का अनूठा और सहृदयतापूर्ण मनोरम चित्रण पाते हैं। उनके काव्य का अन्तरंग और बहिरंग दोनों उत्कृष्ट और हृदयग्राही हैं। उनकी नायिकाएँ परम्पराभुक्त होने पर भी अकृत्रिम और सजीव हैं। प्राचीन काल के किसी कवि के साथ उनकी तुलना करके उनका महत्व नहीं प्रकट किया जा सकता। ऐसा करना उनकी उस विशेषता को भूल जाना है जो प्रगतिशील जीवन को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देती। उनका अपना अलग स्थान है। उनमें बिहारी की समाहार शक्ति, घनानन्द की स्वाभाविकता, मतिराम का लालित्य, रहीम का बाँकपन और रसखान की भावप्रवणता सब एक साथ विद्यमान हैं। परन्तु हम इन सबके ऊपर उनकी अपनी हरिऔधी छाप विद्यमान है। छलकता हुआ यह 'रसकलस' हमारे साहित्यिक मंगल का सूचक है, साहित्य-मन्दिर के शिखर पर स्थान पाने योग्य है।

श्री रमाशंकर शुक्ल रसाल ने रसकलस की भूमिका के सम्बन्ध में लिखा है—"मूलग्रन्थ, चूँकि रीति ग्रन्थों की परम्परागत रचना-शैली से लिखा गया है, इसलिये उसमें रस सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले विविध मत-मतांतरों, उनके आधार पर होने वाले क्रमिक विकास आदि की सम्यक् समीक्षा या मीमांसा नहीं की गयी और इस प्रकार विषय विवेचन का एक अत्यन्त आवश्यक या अनिवार्य अंग रह गया था। अतएव उपाध्याय जी ने अपनी भूमिका में,

(जिसका कार्य वस्तुत: विषय में प्रवेश कराना और उसके सम्बन्ध की अन्य आवश्यक बातों का यथेष्ट निरूप या स्पष्टीकरमण करते हुए समुचित परिचय देना है,) इन सब बातों का बड़ा ही मर्मिक और पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है और इस न्यूनता की परमोपयोगी तथा परमावश्यक पूर्ति कर दी है। भूमिका के इस अंश से उपाध्याय जी के प्रगाढ़ पांडित्य, विस्तृताध्ययन तथा पूर्ण ज्ञान का स्पष्ट रूप से पता चलता है।"

अन्य भूमिकाओं में भी उनके पांडित्य का महत्तम रूप दृष्टिगत हुआ है। उन्होंने जो भी समीक्षाएँ लिखी हैं वे रसवादी दृष्टिकोण की हैं। वे रस की उत्पत्ति तब मानते थे जब स्थायी भाव व्यक्त होकर विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ सर्वथा, तल्लीन हो जाये। साथ ही वे संतुलित तटस्थता को भी महत्व देते हैं तथा रस का मूल उद्देश्य वे आनन्द मानते हैं। रस परिणति की अन्तिम सीमा वे ब्रह्मानन्द सहोदर बताते हैं। वे भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। ब्रह्म सहोदर आनन्द से उनका अर्थ था अभिव्यक्ति के चैतन्य जन्य चमत्कार से सहज आनन्द की प्राप्ति।

इसी कसौटी पर उन्होंने समस्त आलोचनाएँ लिखी हैं। वे समाज और युग मंगल को भी महत्तम स्थान देने वाले समीक्षक थे।

हरिऔध जी कवि के रूप में तो अमर हैं। उनका आलोचक रूप भी अपनी ऐतिहासिक महत्ता निश्चित रूप से रखता है। अतएव आलोचना के क्षेत्र में उनकी देनों को संकलित करने का प्रयत्न मैंने इस कृति में धर्म के रूप में किया है। आशा है हिन्दी जगत इसका स्वागत करेगा।

केशवदेव उपाध्याय

सदाबरती, आजमगढ़।

साहित्य

"सहितस्य भावः साहित्यं" जिसमें सहित का भाव हो, उसे साहित्य कहते हैं।

'परस्परसापेक्षाणाम् तुल्यरूपाणाम् युगपदेकक्रियान्वयित्वम् साहित्यम्।"

—श्राद्ध-विवेक

"तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं वृद्धिविशेषविषयित्वं वा साहित्यम्।"

——शब्दशक्ति-प्रकाशिका

"मनुष्यकृतश्लोकमयग्रन्थविशेषः साहित्यम्।"

—शब्द-कल्पद्रुम

सहृदय विद्वान् श्रीमान् पण्डित रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ ने साहित्य का विलक्षण अर्थ किया है। वे कहते हैं——

"जो हित के साथ वर्तमान है, वह हुआ सहित और उसका जो भाव है, वही हुआ साहित्य, अर्थात् जो हमारे हितकारी भाव हैं, वे ही साहित्य हैं।"

——साहित्य-मीमांसा

कवीन्द्र रवीन्द्र कहते हैं——"सहित शब्द से साहित्य शब्द की उत्पत्ति है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में एक मिलन का भाव

दृष्टिगत होता है, वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यह नहीं, वरन् वह बतलाता है है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के सहित निकट का, अत्यन्त अन्तरंग योगसाधन साहित्य है यह और किसी के द्वारा सम्भव नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है, उस देश के लोग परस्पर सजीव बन्धन से बँधे नहीं, विच्छिन्न होते हैं।" —साहित्य

'श्राद्ध-विवेक' और 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' ने साहित्य की जो व्याख्या की है, कवीन्द्र का कथन एक प्रकार से उसकी टीका है, वह व्यापक और उदात्त है। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में रूढ़ है—शब्द-कल्पद्रुम की कल्पना कुछ ऐसी ही है, परन्तु ऊपर की शेष परिभाषाओं और अवतरणों से यह विचार एकदेशीय पाया जाता है। साहित्य शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है, वह स्वयं बहुत व्यापक है। उसको संकुचित अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। साहित्य समाज का जीवन है। यह उसके उत्थान-पतन का साधन है। साहित्य के उन्नत होने से समाज उन्नत, और उसके पतन से समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है, जो देश को अन्धकार-रहित, जाति-मुख को उज्ज्वल और समाज के प्रभावहीन नेत्रों को सप्रभ रखता है। वह सबल जाति का बल, सजीव जाति का जीवन, उत्साहित जाति का उत्साह, पराक्रमी जाति का पराक्रम, अध्यवसायशील जाति का अध्यवसाय, साहसी जाति का साहस और कर्तव्यपरायण जाति का कर्त्तव्य है।

वह धर्म-भाव जो भव-भावनाओं का विभव है, वह ज्ञान-गरिमा जो गौरव-कामुक को सगौरव करती है, वह विचार-परम्परा जो विचारशीलता की शिला है, वह धारणा जो धरणी में सजीव जीव धारण का आधार है, वह प्रतिभा जो अलौकिक प्रतिभा से प्रतिभासित हो पतितों को उठाती है, लोचनहीन को लोचन देती है और निरवलम्ब का अवलम्बन होती है। वह कविता जो सूक्ति-समूह की प्रसूता हो संसार की सारवत्ता बतलाती

है, वह कल्पना जो कामद कल्पलतिका बन सुधाफल फलाती है, वह रचना जो रुचिर-रुचि-सहचरी है, वह ध्वनि जो स्वर्गीय ध्वनि से देश को ध्वनित बनाती है, वह सजीवता जो निर्जीवता-संजीवनी है, वह साधना जो समस्त सिद्धि का साधन है, वह चातुरी जो चतुर्वर्ग-जननी है, वह चारु चरितावली जो जाति-चेतना और चेतावनी की परिचालिका है—जब हमारे साहित्य का सर्वस्व थी, उस समय हमारे पवित्र वेदों का आविर्भाव हुआ। हमने अनुपम उपनिषदों की रचना की, दर्शनों के दर्शन कराये, सूत्रों को रचकर समाज को एक सूत्र में बाँधा, आदर्शचरित के आदर्श रमणीय वाल्मीकीय रामायण को बनाया और अशेष ज्ञान-भाण्डार महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ को निर्मित कर भारत का मुख उज्ज्वल किया।

हमारे त्रिदेवों में त्रिलोकपति की सृजन-पालन-संहार-सम्बन्धिनी त्रिशक्ति का अद्‌भुत विकास है। ब्रह्मदेव चतुर्मुख अथवा चतुर्वेद रचयिता, ललाट-फलक-लिपि-विधाता और समस्त विधि-विधान-सर्वस्व हैं। उनकी शक्ति वीणा-झंकार जीवनामृत जीवन-संचारिणी और उनकी वाग्देवी विविध विद्या-स्वरूपा हैं। भगवान् विभु चतुर्भुज हैं—चार हाथों से समस्त लोक का लालन-पालन करते हैं। वे क्षीर-निधि-निकेतन हैं, इसीलिये स्तनपायी जीवमात्र को प्रतिदिन क्षीर-पान कराते रहते हैं। वे विश्वम्भर हैं, इसीलिये उनकी विश्वम्भरी शक्ति आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त का प्रतिपल पालन-पोषण करती है। भगवान् भूतनाथ की मूर्त्ति बड़ी भावमयी है। वह बतलाती है, संसार-हित के लिए, अवसर आने पर गरलपान कर लो, परन्तु जो कुसुम-सायक बनकर मर्मवेधी बाण प्रहार करता है, उसका संहार अवश्य करो; लोक-लाभ के निमित्त आकाश-निपतित कठोर जलपात शिर पर वहन करो, पर उरगों की उरगता-निवारण करने से मत चूको। शक्ति कितनी ही प्रचण्ड हो तो क्या, उसको दश भुजाएँ क्यों न हों; परन्तु अपने साधन-बल से उसे भी अंगभुक्त किये बिना मत छोड़ो। हमारा साहित्य जब इन मर्म की बातों को मर्मभरी भाषा में बत

लाता था, और जब हममें उसके समझने की मार्मिकता थी——उस समय हम पृथ्वी को दूहते थे, समुद्र को मथकर चौदह रत्न निकालते थे, पंच-भूत पर शासन करते थे, व्योमयानों द्वारा आकाश में उड़ते थे, समुद्र पर पुल बनाते थे, पहाड़ को कानी उँगली पर नचाते थे, देह रहते विदेह होते थे, राजप्रासाद में रहकर गृह-संन्यासी थे, कायाकल्प करते थे और राज-त्यागी होकर भी कृपापात्र को राज-पद पर प्रतिष्ठित कर देते थे। अध्यात्म शक्ति इतनी प्रबल थी कि असीम पयोधि-जल को गण्डूष-जल समझते थे, पर्वत को नत-मस्तक कर देते थे और चक्रवर्ती भूपाल के रत्न-मण्डित मुकुट को पद-रज द्वारा आरंजित बनाते थे।

कहते व्यथा होती है कि कुछ कालोपरान्त हमारे ये दिन नहीं रहे——हममें प्रतिकूल परिवर्तन हुए और हमारे साहित्य में केवल शान्त और श्रृंगार रस की धारा प्रबल वेग से बहने लगी। शान्त रस की धारा ने हमको आवश्यकता से अधिक शान्त और उसके संसार की असारता के राग ने हमें सर्वथा सारहीन बना दिया। श्रृंगार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया, उसने भी हमें कामिनी-कुल-श्रृंगार का लोलुप बनाकर, समुन्नति के समुच्च श्रृंग से अवनति के विशाल गर्त्त में गिरा दिया। इस समय हम अपनी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकार्यपटुता को साधुता के परदे में छिपाने लगे——और हमारी विलासिता, इन्द्रिय-परायणता, मानसिक मलिनता भक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारता में रत होकर कितने सब प्रकार वेकार हो गये, उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनीया श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पंथ कलंकित होने लगा। न तो लोक-पावन भगवान् श्रीकृष्ण लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वंदनीया वृषभानुनन्दिनी कामनामयी प्रेमिका; न तो भुवन-अभिराम वृन्दावनधाम अवैध विलास-वसुन्धरा है, न कल-कलवाहिनी कलिन्दनन्दिनी-कूल काम-केलि का स्थान। किन्तु अनधिकारी हाथों में पड़कर वे वैसे ही चित्रित

किये गये हैं। कतिपय महात्माओं और भावुक जनों को छोड़कर अधिकांश ऐसे अनधिकारी ही हैं, और इसीलिए उनकी रचनाओं से जनता पथ-च्युत हुई। केहरि-पत्नी के दुग्ध का अधिकारी स्वर्ण-पात्र है, अन्य पात्र उसको पाकर अपनी अपात्रता प्रकट करेगा। मध्य काल से लेकर इस शताब्दी के आरम्भ तक का हिन्दी-साहित्य उठाकर आप देखें, वह केवल विलास का क्रीड़ाक्षेत्र और काम-वासनाओं का उद्‌गारमात्र है। संतों की बानी और कतिपय दूसरे ग्रन्थ अवश्य इसके अपवाद हैं। ऐसा ग्रंथ जो हिन्दू जाति का जीवन-सर्वस्व, उन्नायक और कल्प-तरु है, जो आदर्शचरित का भण्डार और सद्‌भाव-रत्नों का रत्नागार है, जो आज दश करोड़ से भी अधिक हिन्दुओं का सत्पथ-प्रदर्शक है, यदि है तो रामचरितमानस है, और वह गोस्वामीजी के महान् तप का फल है। कुछ ग्रन्थ हिन्दी भाषा में नीति और सद्विचार-सम्बन्धी और हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

न वह साहित्य साहित्य है, न वह कल्पना कल्पना, जिसमें जातीय भावों का उद्‌गार न हो। जिन काव्यों, ग्रन्थों को पढ़कर जीवनी-शक्ति जागरित नहीं होती, निर्जीव धमनियों में गरम रक्त का संचार नहीं होता, हृदय में देश-प्रेम-तरंगें तरंगित नहीं होतीं, वे केवल निस्सार वाक्य-समूह-मात्र हैं। जो भाव देश को, जाति को, समाज को स्वर्गीय विभव से भर देते हैं, उनमें अनिर्वचनीय ज्योति जगा देते हैं, उनको स्वावलम्बी, स्वतन्त्र, स्वधर्मरत और स्वकीय कर देते हैं, यदि वे भाव किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं, तो वे मौक्तिकहीन शुक्ति हैं। जिसमें मनुष्य-जीवन की जीवन्त सत्ता नहीं, जो प्रकृति के पुण्य-पाठ की पीठ नहीं, जिसमें चारु चरित चित्रित नहीं, मानवता का मधुर राग नहीं, सजीवता का सुन्दर स्वाँग नहीं, वह कविता सलिल-रहित सरिता है। जिसमें सुन्दरता विकसित नहीं, मधुरता मुखरित नहीं, सरसता विलसित नहीं, प्रतिभा प्रतिफलित नहीं, वह कवि-रचना कुकवि-वचनावली है। जो गद्य अथवा पद्य

जाति की आँखें खोलता है, पते की सुना राह पर लगाता है, मर्मवेधी बात कह सावधान बनाता है, चूक दिखा चौकन्ना करता है, चुटकियाँ ले सोतों को जगाता है, वह इस योग्य है कि सोने के अक्षरों में लिखा जावे। वह अमृत है जो मरतों को जिलाता है। हिन्दी में ऐसे गद्य-पद्य विरल हैं। उर्दू में कलामे अकबर में यह कमाल नजर आता है। देखिये—

बे परदा नजर आयीं कल जो चन्द बीबियाँ।
अकबर जमीं में ग़ैरते कौमी से गड़ गया।
पूछा जो उनसे आपका परदा वह क्या हुआ।
कहने लगीं कि अक़्ल पै मरदों के पड़ गया।
पाकर खिताब नाच का भी जौक़ हो गया।
सर हो गये तो बाल का भी शौक हो गया।
हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले जब्ती समझते हैं।
कि जिनको पढ़के लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।
किस तरह समझें कि क्या यह फ़िलसफ़ा सरदूद है।
क़ौम ही को देखिये वह मुरदा है मौजूद है।

इस रंग में बा—अक़बाल अक़बाल भी अच्छा कहते हैं। उनकी भी दो-एक बातें सुन लीजिये—

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।
यूनान मिस्र रोमा सब मिट गये जहाँ से।
अब तक मगर है बाकी नामोनिशाँ हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।

सौभाग्य की बात है कि दृष्टिकोण बदला है, परम कमनीय कलेवरा शृंगार रस की कविता-सुन्दरी कवि-मानस-समुच्च सिंहासन से धीरे-धीरे

उतर रही है और उस पर लोकोत्तर कान्तिवती जातीय रागरंजिता कविता देवी सादर समासीन हो रही है। ललित-लीला-निकेतन वृन्दावन धाम अब भी विमुग्धकर है, किन्तु सुजला, सुफला, शस्यश्यामला भारत वसुन्धरा आज दिन अधिक आदरवती है। तरल तरंगमयी तरणितनया उत्फुल्ल-करी है, किन्तु प्रवहमान देश-प्रेम पावन प्रवाह समान सर्वप्रिय नहीं। भगवान् मुरली मनोहर की मधुमयी मुरलिका आज भी मोहती है, मोहती रहेगी, किन्तु अब हम उसके माधुर्य्य में देश-प्रेम की पुटध्वनि में जातीयता की धुन और सुरीलेपन में सजीव स्वर लहरी होने के कामुक हैं। प्रेम-प्रतिमा राधिका देवी की आराधना आज भी होती है, किन्तु पुष्पांजलि अर्पण कर बद्धांजलि हो अब यही प्रार्थना की जाती है—माता तू जिसकी हृदयेश्वरी है, उससे गम्भीर भाव से कह दे—भारत भूतल फिर भाराक्रान्त है।*

---

* परिशिष्ट

कवि

कवि कौन है ? यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का आठवाँ मंत्र यह है "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" । परमात्मा कवि है, मनीषी है, सर्वव्यापी है और स्वयमेव है । इन नामों में परमात्मा को सर्वप्रथम कवि नाम से क्यों अभिहित किया गया है ? इसलिये कि ब्रह्मस्तंब पर्यंत जो कुछ इन्द्रियगोचर है उसमें उसकी अलौकिक मार्मिकता और अनिर्वचनीय कवि-कर्म का विकास है । चाहे आप हिमधवल पर्वत मान लें, चाहे उत्ताल तरंग तोयनिधि, चाहे लहरीलीलासंकुल सरिता, चाहे शस्यश्यामला धरित्री, चाहे फल-कुसुम भारावनत तरुपुंज, चाहे सुनील निर्मल गगन, चाहे तेजः-पुंज-कलेवर मरीचिमाली, चाहे सरससुधास्रावी मयंक, चाहे चमत्कारमय तारकसमूह, चाहे कोमलकान्त शरीर, चाहे एक रजकण, आप जिसे लेंगे उसी में उस अनन्त-लीलामय की अलौकिक काव्यकला दृष्टि-गोचर होगी । उसी में उसकी अभूतपूर्व मार्मिकता दिखायी पड़ेगी । यही सब अद्भुत व्यापार सर्वप्रथम मानव दृष्टि को उसकी ओर आकर्षित करते हैं । इसीलिए सर्वप्रथम उसका परिचय कवि नाम द्वारा ही दिया गया है । मन, बुद्धि, हृदय, नेत्र और मस्तिष्क की रचना में जो मार्मिकता लक्षित होती है, जो अनिर्वचनीय प्रतिभा प्रतिभासित होती है, उसकी इयत्ता नहीं हो

सकती। यह वह अगाध समुद्र है, जो आज भी अनवगाहित है; परन्तु जिसने इसका जितना ही अधिक भेद जाना है, इस जटिल ग्रन्थि को जितना ही खोला है, इस असीम और अनन्त अथच नितान्त मनोमुग्धकर अपार पारावार में जितना ही अधिक अवगाहन किया है, वह उतना ही अधिक भाग्यशाली और उतना ही अधिक उच्च पदारूढ़ है। उसके द्वारा इस मंगलमयी सृष्टि का जितना हित साधन होता है, मानव समूह का वरंच प्राणिमात्र का जितना श्रेय होता है, अन्य द्वारा उतना होना असंभव है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, जीवो ब्रह्मैवनापरः', 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी', ये वाक्य हमको अभेद का पाठ पढ़ाते हैं, बतलाते हैं कि जीवन यदि अविद्याग्रस्त नहीं है, तो वह समझ सकता है कि वह क्या है? शेली का कथन है कि "सुन्दर और साधारण दृश्यों को देखकर बच्चों के मुँह से जो आनन्द की किलकारी निकलती है, उच्चतर सौंदर्य की अभिव्यक्ति से कवि का आनन्द भी वैसे ही काव्य रूप में उछल पड़ता है। पहला मरणाधीन है परन्तु दूसरा अमर है"। कवि उस अनन्त और एक का अंश है और इसी कारण उस अनन्त लीलामय की लीलाओं पर अपनी लीला का स्वांग रचनेवाला, उसके अनन्त सौंदर्यमय दृश्यों द्वारा अपनी सौंदर्यमयी कविता को सजीव बनानेवाला, उसकी अलौकिक भावमयी रचना की कलित कुसुमावली द्वारा अपनी कविताकामिनी को सुसज्जित करनेवाला, उसके औदार्य आदि महान गुणों की मंजु मुक्ता द्वारा अपने मानस को सजानेवाला एक सहृदय जन भी कवि नाम से ही पुकारा जाता है। अग्निपुराण में लिखा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

नरत्व दुर्लभ है, विद्या प्राप्ति उससे दुर्लभ है, कवित्व उससे दुर्लभ है, शक्ति उससे भी दुर्लभ है। हमीं नहीं कहते कि 'प्राणभृत्सु

नराः श्रेष्ठाः' अन्य लोग भी कहते हैं कि 'इन्सान अशरफुलमख़लूक़ात है', इसीलिए नरत्व दुर्लभ है। नरत्व प्राप्त होने पर विद्वान होना कठिन है। आप लोग स्वयं जानते हैं कि मनुष्यों में कितने वास्तव में विद्वान् हैं। विद्वानों से उच्च कवित्व अर्थात् कवि का पद है और इसीलिए शायद महात्मा तुलसीदास कहते हैं 'कवि न होउँ नहीं चतुर कहाऊँ'। थोड़ी सी काव्यप्रतिभा पाकर अथवा काव्य रचने में लब्धप्रतिष्ठ होकर किम्वा साहित्य निर्माण में स्वाभाविक योग्यता लाभ कर अनेक विद्वान् न जाने क्या-क्या कह जाते हैं। हमारे पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथवामाधर सुधा।
कदाचित्केषांचित्खलु हि विदधीरन्न बिमुदम्।
ध्रुवन्ते जीवन्तोप्यहह मृतका मन्दमतयो।
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः॥

शहद, अंगूर, अमृत और कामिनीकुल का अधरामृत कभी किसी को ही आनन्दित करते हैं। परन्तु वे मूर्ख तो जीते हुए ही मृतक तुल्य हैं जिन्हें कि पण्डितराज जगन्नाथ की कविता आनन्द न दे।

उर्दू के मशहूर शायर नासिख फ़रमाते हैं—

इक तिफ्ल दबिस्तां है फलातूं मेरे आगे,
क्या मुँह है अरस्तू जो करे चूँ मेरे आगे।
क्या माल भला क़सरे फ़रेदूँ मेरे आगे,
काँपे है पड़ा गुम्बदे गरदूँ मेरे आगे।
मुरग़ाने उलुल अजनेहा मानिन्द कबूतर,
करते हैं सदा इज्ज़ से गूँ गूँ मेरे आगे।
बोले है यही ख़ामा कि किस किस को मैं बांधूं,
बादल से चले आते हैं मज़मूँ मेरे आगे।

वह मारे फ़लक काहे कशां नाम है जिसका,
क्या दख़्ल जो बल खाके करे फ़ूँ मेरे आगे।

परन्तु, कवि चक्र चूड़ामणि महामान्य महात्मा तुलसीदास कहते हैं—**'कवि न होऊँ'**, क्यों? ऐसा वे क्यों कहते हैं? इसलिये कि **'जेहि जाने जग जाय हेराई'** अथवा **'आरां कि ख़बर शुद ख़बरश बाज़ नयामद'**, वे जानते हैं कि कवि शब्द का क्या महत्व है और इसीलिए वे कहते हैं कि मैं कवि नहीं हूँ। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के आविष्कारक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता न्यूटन ने अन्त समय कहा था—"परमात्मा की अलौकिक रचना अगाध उदधि के कूल पर मैं सदा एक बालक की भाँति खेलता रहा। कभी एकाध चमकीले कंकर मेरे हाथ लग गये। किन्तु, उसकी महिमा का अगाध समुद्र आज भी बिना छाने हुए पड़ा है।" वास्तव में बात यह है कि अपरिसीम अनन्त गगन में उड़नेवाला एक क्षुद्र विहंग उसका क्या पता पा सकता है? गोस्वामीजी के **'कवि न होऊँ'** वाक्य की गम्भीर ध्वनि यही है। उन्होंने इस वाक्य द्वारा यह तो प्रकट किया है कि मैं कवि नहीं हूँ। किन्तु, उनके इस वाक्य का गांभीर्य ही यह प्रकट करता है कि वे कितने योग्य कवि थे। हमलोगों को भी उन्हीं का पदानुसरण करना चाहिये। हमलोगों को अपनी समाज-सेवा द्वारा, अपने भावोद्यान के सुमनों द्वारा, अपनी कवितालता के सौरभित दलों द्वारा, मनोराज्य के विपुल विभव द्वारा, प्रतिभा-भण्डार के बहुमूल्य मणि द्वारा, हृदय के सरस प्रवाह द्वारा, देश के लिये, जाति के लिये, लोकोपकार के लिये उत्सर्गीकृत जीवन होना चाहिये। जनता आप ही कहेगी कि हम कौन हैं। काम चाहिये, नाम नहीं। **'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**। एलिजाबेथ ब्राउनिंग का कथन है कि 'कवि सौन्दर्य का ईश्वर प्रेरित आचार्य है'। मैथ्यू आर्नल्ड कहते हैं—"जिसके काव्य में मानव-जीवन की गुप्त समस्यायें प्रतिफलित होती हैं और सौन्दर्य के साथ उन गूढ़ समस्याओं का समन्वय

होता है, वही कवि है" कार्लाइल का वचन है—"कवि और भविष्यवक्ता एक ही प्रकार का मंगल समाचार सुनाते हैं। जो कवि है वही वीर है। सत्य और काव्य दोनों एक वस्तु हैं। काव्य की जीवन-धारा सत्य है। जो कवि है, वही सच्चा शिक्षक है"। टेनिसन कहता है—"सिर पर अनेक ताराओं का मुकुट धारण किये सोने के देश में कवि ने जन्म धारण किया था। घृणा की घृणा, उपेक्षा की-उपेक्षा और प्रेम का प्रेम, यही उसको भेंट में मिला था। उसकी दृष्टि जीवन और मरण के बीच से, भले और बुरे के भीतर से होकर दूर तक देखती है।" जो कवि नाम के अधिकारी हैं उनको इन पंक्तियों का अवतार होना चाहिये, अन्यथा कवि कहलाना परमात्मा के पुनीत नाम का अपमान करना है।

कवि-कर्म्म

कवि-कर्म्म के विषय में सूत्ररूप से ऊपर कुछ कहा गया है, उसकी व्याख्या आवश्यक है। कविता और काव्य ही कवि-कर्म्म है। सेक्सपियर का कथन है—'कवि की दृष्टि स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग तक आती-जाती रहती है। उसकी कल्पना अज्ञात को मूर्तिमान् कर देती और लेखनी उस पर रंग चढ़ाकर उसे मर्त्यलोक का-सा नाम-धाम दे डालती है। अरस्तू का कथन है—"साधारणतः सब प्रकार कलित कलाओं की भाँति काव्य का भी स्वाभाविक गुण प्रकृति का अनुकरण करना ही है। प्रकृति का अर्थ सृष्टिपदार्थमयी वाह्य प्रकृति नहीं है, वरन् मेरा अभिप्राय विश्व की सृष्टिक्षमशक्ति और उसमें छिपे हुए ध्रुव सत्य से है। काव्य इतिहास की अपेक्षा महत् और दार्शनिक विचार से पूर्ण होता है। वह विश्वव्यापी मूल पदार्थ की अभिव्यक्ति है।" वर्ड्सवर्थ बतलाते हैं—"काव्य एक सत्य है, वह सत्य स्थानीय वा व्यक्तिविशेष के लिये सीमाबद्ध नहीं है, वह सर्वसाधारण की वस्तु है। वह बड़ा ही शक्तिशाली है। मनोवृत्ति की गति की भाँति वह भी बिलकुल हृद्गत् बात है। वाह्य प्रमाण के ऊपर

उसकी स्थिति नहीं है। काव्य प्रकृति और मानव की प्रतिमूर्ति है। कवि के लिये कोई पराया नहीं। वह सबको आनन्द देने और सबको सन्तुष्ट करने के लिये बाध्य है। सत्य की एक महान् कल्पना के भीतर कवि और भविष्यवक्ता एक दूसरे के साथ एक ही योगसूत्र में गुँथे हुये हैं। ये दोनों सबको अपना बना लेते हैं। इसकी उनमें ईश्वर की दी हुई विशेष शक्ति वर्त्तमान है। उनके ज्ञानचक्षुओं के सामने अदृष्टपूर्व और नये-नये दृश्यपट खुलते हैं। महान् कवि के विशाल हृदयराज्य में धर्म की राजधानी है।"

यह तो कवि-कर्म्म की परिभाषा हुई। उसका व्यावहारिक रूप क्या हो सकता है, यह विषय विचारणीय है। हम लोगों के अमर महाकाव्य रामायण और महाभारत हैं। कुछ दिन हुए मद्रास प्रान्त में व्याख्यान देते हुए एक विद्वान ने कहा था कि "यदि हमारा सर्वस्व छिन जावे तो भी कोई चिन्ता नहीं, यदि रामायण और महाभारत जैसे हमारे बहुमूल्य मणि सुरक्षित रहें। इन दोनों ग्रन्थों में वह संजीवनी शक्ति है कि जब तक इनका सुधा-स्रोत प्रवाहित होता रहेगा, हिन्दू-जाति अजर-अमर रहेगी। जिस दिन यह सुधा-स्रोत बन्द होगा उसी दिन हिन्दू-जीवन और हिन्दू-सभ्यता दोनों निर्मूल हो जावेगी"। उनके इस कथन का क्या मर्म है? उन्होंने किस सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर यह कथन किया? वास्तव में बात यह है कि ये ग्रन्थ हिन्दू-सभ्यता के आदर्श हैं; हमारी गौरव-गारिमा के विशाल स्तम्भ हैं; इनमें हमारे हृदय का मर्म स्वर्णाक्षरों में अंकित है; हमारे सुख-दुख का, हमारे उत्थान-पतन का ज्वलन्त उदाहरण इनमें मौजूद है। आर्य्यसभ्यता कैसे उत्पन्न हुई, कैसे परिवर्द्धित हुई, किन-किन घात-प्रतिघातों में पड़ी, फिर कैसे सुरक्षित रही, इसका उनमें सुन्दर निरूपण है। उनमें सामायिक चित्र हैं, आदर्शमूलक विचार हैं, समुन्नति के महामन्त्र हैं, सिद्धि के सूत्र हैं, व्यवहार के प्रयोग हैं, सफलता के साधन हैं। उनमें कामद कल्पलतिका है, फलप्रद कल्पतरु है, संजीवनी जड़ी है, अमर बेलि है और चारु चिन्तामणि है। प्रयोजन यह कि किसी

जीवित जाति के लिए जीवन-यात्रा-निर्वाह की जितनी उपयोगी सामग्री हैं, वह सब उनमें मौजूद है, और यही कारण है कि वे आज तक उसके जीवन सर्वस्व हैं। प्रत्येक सहृदय कवि को इन्हीं ग्रंथों को आदर्श मानकर कार्य्य क्षेत्र में उदारता और सहृदयता के साथ उत्तीर्ण होने की आवश्यकता है। आज हमारे लिए जो विष है उसका त्याग और जो अमृत है उसका ग्रहण आवश्यक है। कवि की दृष्टि प्रखर होनी चाहिए। उसको समाज के भीतर की गूढ़ से गूढ़ बातों को, छिपे से छिपे रहस्य को उद्‌घाटन करना चाहिए और उसके गुण-दोष की समुचित विवेचना करके दोष के निराकरण और गुण के संवर्धन और संरक्षण के लिए बद्धपरिकर होना चाहिए। यदि उसमें सच्चा आत्म-उत्सर्ग है, वास्तविक सत्यप्रियता है, यदि उसका हृदय उन्नत है, उदार है, निरपेक्ष है, संयत है, तो उसकी लेखनी जाति के लिए संजीवनीधारा होगी और उसका कविताकलाप समाज पर सुधावर्षण करेगा। वैतालिक जिस समय इदंकुतः में रत रहकर मानव हृदय को उपपत्तियों में उलझाता है और उसे पेचीली बातों में फंसाकर भूलभुलैया में डाल देता है उसी समय कवि अपनी रसमयी वाणी से उसको सरस कर देता है और उसमें उत्साह और स्फूर्ति के वह बीज वपन कर देता है जो उसके लिए तत्काल फलप्रसू होते हैं। कवि के एक-एक शब्द, कविता की एक-एक पंक्ति में वह जीवन्त शक्ति होती है और वह इतनी प्रभावशालिनी होती है कि जाति के उत्थान-पतन में, मानव हृदय के संबोधन में, चित्त के वशीकरण में जादू का-सा काम देती है। कविपुंगव सूरदास के सामने दो मनुष्य उपस्थित हुए। ये दोनों विद्वान् थे, शंकासमाधान और विवाद की निवृत्ति के लिए उनकी सेवा में आये थे। एक कहता—'कुल बड़ा', दूसरा कहता—'संगति बड़ी'। घंटों लड़झगड़ कर भी जब किसी सिद्धांत पर उपनीत न हुए तो उनको उक्त महात्मा को पंच मानना पड़ा। उन्होंने उनकी बातों को सुनकर तत्काल निम्नलिखित दोहा पढ़ा—जिसने ऐसे गूढ़ प्रश्न की

मीमांसा तुरन्त कर दी—

स्वाति बूंद सीपी मुकुत कदली भयो कपूर।
कारे के मुख बिख भयो संगति केवल सूर॥

यह है कवि और कवि के शब्दों की क्षमता और महत्ता। यदि देश और जाति को आवश्यकता है, तो ऐसे कवियों की आवश्यकता है। यदि हमारी जाति के विकल्प नेत्र कोई प्रभावमय बदनारविन्द देखना चाहते हैं तो ऐसे ही शक्तिशाली कवि को देखना चाहते हैं। आज हमारी हिन्दू जाति का अधःपात प्रखर गति से हो रहा है, आज पद-पद पर उसका स्खलन हो रहा है। जातीय सभाएँ उसकी संघ-शक्ति का संहार कर रही हैं, विधवाओं के करुण क्रन्दन से आज पत्थर का हृदय भी विदीर्ण हो रहा है, दिन-दिन उसकी संख्या क्षीण हो रही है, उसके हृदय-धन, उसके नेत्रों के तारे उससे अलग हो रहे हैं। आज भी बाल-विवाह का आर्त्तनाद कर्णगत हो रहा है। वृद्ध-विवाह आज भी समाज को विध्वंस कर रहा है। आर्य्य-सन्तान कहलाकर महर्षिकुल में जन्म लेकर, भगवती भारतमाता की गोद में पलकर आज भी हम कन्या-विक्रय कर रहे हैं। आज भी अपनी कुसुम-कोमल-बालिका को धन के लिये, थोड़े से अर्थ के लिये, हम तृष्णापिशाचिनी के सामने बलिप्रदान कर रहे हैं। यदि मन्दिरों में अकाण्ड तांडव है, तो सुरसरि-पुनीत-तट पर पैशाचिक नृत्य है। कहीं धर्म की ओट में सतीत्व-हरण हो रहा है, कहीं भभूत पर विभूति निछावर हो रही है। आज मनोमालिन्य का अखण्ड राज्य है, अविश्वास और अंधविश्वास की दुन्दुभी बज रही है। क्या कहें, किस-किस बात को कहें, जी यही कहता है—

क्या पूछते हो हमदम इस जिस्म नातवाँ की।
रग-रग में नेशे ग़म है कहिये कहाँ-कहाँ की॥

पर इस दर्द की दवा कौन करेगा, कौन इस बिगड़ी को बनावेगा, कौन हमारी नाड़ी टटोलेगा, कौन गिरती जाति को उठावेगा, कौन उजड़े घर को बसावेगा और कौन हमारी उलझी को सुलझावेगा ? आँख बहुतों की ओर जाती है पर हृदय यही कहता है 'एक सच्चा कवि'। इस सच्चे कवि शब्द पर खटकना न चाहिये, हृदय में दर्द होने पर सच्चा कवि सभी हो सकते हैं। प्रतिभा किसी जातिविशेष और मनुष्यविशेष की बाँट में नहीं पड़ी है। हमारे उत्साही कविगण आवें और इस क्षेत्र में कार्य्य करें। उनके पुरुषार्थ और कवित्वबल से भारतमाता का मुख उज्ज्वल होगा और उनकी कीर्तिकौमुदी से वसुधा धवलित हो जावेगी। आज दिन यदि कोई महदनुष्ठान है तो यही, तपश्चर्य्या है तो यही कि जैसे हो वैसे जाति के कुरोग विदूरित किये जावें ? कवि की प्रौढ़ लेखनी का प्रौढ़त्व और कवि की मार्मिकता का महत्त्व इसी में है कि वह प्रसुप्त जातियों को जगावे, उसके रोम-रोम में वैद्युतिक प्रवाह प्रवाहित करे और उसको उस महान् मंत्र से दीक्षित करे, जो उसको सगौरव संसार में जीवित रहने का साधन हो। एक दिन साहित्य-संसार शृंगार-रस से प्लावित था, उसी की आनन्द-भेरी जहाँ देखो, वहाँ निनादित थी। समय-प्रवाह ने अब रुचि को बदल दिया है, लोगों के नेत्र खुल गये हैं, कविगण अपना कर्त्तव्य अब समझ गये हैं। इस समय यदि आवश्यकता है तो तदीयता की आवश्यकता है। आज दिन भारतमाता यह कह रही है—

मन्मना भव मद्भक्त मद्याजी मां नमस्कुरु,
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

क्या उसका यह कथन सहृदय कविगण उत्कर्ण होकर सुनेंगे।

कवि-कर्म का यह पहला पहलू है। दूसरा पहलू उसका साहित्य सम्बन्धी है। मैं इस विषय में भी कुछ कथन कर अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा। कवि कर्म बहुत दुसह है, जब तक सर्वसाधारण की दृष्टि

विलक्षण न होगी, वह कविकर्म का अधिकारी न हो सकेगा। गजराज को शिर पर धूल डालते हुए चलते सभी देखते हैं पर इस क्रिया की एक बारीक बात सहृदयवर रहीम खाँ खानखाना ने ही देखी और विमुग्ध होकर कहा—

छार मुण्ड मेलत रहत कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज ऋषिपत्नी तरी सो ढूँढ़त गजराज॥

चम्पा की हृदयलुभावनी छवि किसको नहीं लुभाती, पर एक सहृदय कवि के मुख से ही यह बात निकली—

चम्पा तो में तीन गुण, रूप, रंग औ' बास।
औगुण तोमें एक है, भौंर न बैठत पास॥

कवि-कर्म यही है। तुकबन्दी करना कवि-कर्म नहीं है। कविवर 'ठाकुर' कहते हैं—

ठाकुर जो तुकजोरनहार उदार कविन्दन की सरि कैहैं।
एक दिना फिर तो करतार, कुम्हार हूँ सो झगरो बनि एहैं।

यदि मूर्ति खड़ी कर देने से ही काम चलता तो करतार और कुम्हार में अन्तर ही क्या है? बात तो है सजीवता की, और इसीलिए विद्वानों ने कहा है—

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः।
जाके लागत ही तुरत सिर ना डुलै सुजान,
ना वह कवित न कबिकथन ना वह तान न बान।

दूसरा कवि-कर्म है कोमल-कान्त पदावली। आजकल की कर्णकटु भाषा में कविता करना कवि-कर्म नहीं है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'—जिस

वाक्य में रस नहीं, वह काव्यसंज्ञा का अधिकारी नहीं। जो रस प्रसाद-गुणमयी कविता में होता है, अन्य में नहीं; और प्रसादगुण के लिए कोमलकान्त पदावली आवश्यक है। उर्दू का एक कवि कहता है 'ज़ेरे कदमे वालिदा फिरदौस वरीं है'। दूसरा कहता है 'जुनूं पसन्द है मुझको हवा बबूलों की, अजब बहार है इन ज़र्द ज़र्द फूलों की'। तीसरा कहता है, 'दिल मल गये गेसुओं में फंसके, कुम्हला गये फूल रात बसके'। अब आप सोचिये, इनमें कौन अधिक सरस है, वही जिसकी कोमलकान्त पदावली है।

तीसरा कवि-कर्म है शब्द-विन्यास। शब्दों की काट-छाँट और उनका यथोचित स्थान पर संस्थान। यह कार्य बड़ी ही मार्मिकता का है। वर्त्तमान कविताओं में इसकी बड़ी त्रुटि है। इस कार्य के लिए एक अच्छे समालोचक-पत्र की आवश्यकता है। किन्तु खेद है कि हिन्दी संसार इससे शून्य है। आजकल की समालोचनायें इर्ष्या-द्वेषमूलक अधिक होती हैं। इसी से जैसा चाहिए वैसा उपकार नहीं हो सकता है। समालोचनायें सहृदयतामयी और उदार होनी चाहिएँ जिसको विरोधी भी स्वीकार करने को बाध्य हों। उचित समालोचनायें और कविता की समुचित काट-छाँट बहुत ही सुफलप्रसू है और वैसा ही उपकारक है जैसा उद्यान के छोटे-छोटे पौधों की काट-छाँट। कुछ प्रमाण लीजिये। हजरत आतश के सामने उनके शागिर्द सबा ने यह शेर पढ़ा—'मौसिमे गुल में यह कहता है कि गुलशन से निकल, ऐसी बेपर की उड़ाता न सैयाद कभी'। शेर बहुत अच्छा है मगर उस्ताद ने कहा कि अगर तुम यों कहते कि 'पर कतर करके यह कहता है कि गुलशन से निकल' तो शेर और भी बढ़ जाता। वास्तव में पर कतरने के साथ बेपर उड़ाने की बात ने कमाल कर दिया। एक मुशायरे में एक लड़के ने यह शेर पढ़ा, 'जिस कमसखुन से मैं करूं तकरीर बोल उठे, मुझमें कमाल वह है कि तसवीर बोल उठे'। हजरत नासिख ने इस शेर की बड़ी प्रशंसा की। हजरत आतश

ने कहा 'कम सखुन' की जगह यदि 'बेजबाँ' होता तो शेर बोल उठता, क्योंकि तसवीर को कमसखुनी से कोई वास्ता नहीं। वास्तव में बहुत अच्छी इसलाह है। यह न समझिये कि उस्ताद आतश नहीं चूकते थे। एक बार मुशायरे में उन्होंने यह शेर पढ़ा 'सुर्मा मंजूरे नज़र रहता है चश्मेयार को, नील का गंडा पिन्हाया मर्दुमे बीमार को'। हजरत नासिख ने कहा—वाह, क्या कहा है; 'नील का गंडा पिन्हाया मर्दुमें बीमार को'। आतश ताड़ गये, बोले—नील का गंडा नहीं, 'नीलगूं गंडा पिन्हाया मर्दुमे बीमार को।' भाव यह कि इस तरह की छील-छाल और काट-छाँट बहुत ही उपयोगिनी और कवि को समुचित शब्द-संस्थान की शिक्षा देने के लिए बहुत ही हितकारिणी है।*

———

* परिशिष्ट ३

हिंदी भाषा का उद्गम

हिन्दी भाषा की जननी कौन है? उसकी जन्मभूमि कहाँ है? वह वहाँ कैसे उत्पन्न हुई, कैसे लालित-पालित हुई? उसका उगना, अंकुरित होना, पल्लवित बनना, फूलना-फलना अत्यन्त मनोमुग्धकर है। परम ललित लेखनी द्वारा ये बातें लिपिबद्ध हुई हैं, बड़े सुचतुर चित्रकारों ने अपनी चारु तूलिका-द्वारा उसका रुचिर चरित्र-चित्र अंकित किया है।

हिन्दी भाषा का वर्त्तमान रूप अनेक परिवर्तनों का परिणाम है। वह क्रम-क्रम विकसित होकर इस अवस्था को प्राप्त हुई है। यह क्रम-विकास कैसे हुआ, उसका निरूपण यहाँ किया जाता है। प्रथम सिद्धान्त यह है कि हिन्दी भाषा की जननी संस्कृत है। पहले वह कई प्राकृतों में परिवर्तित हुई, उसके उपरान्त उसने हिन्दी का वर्तमान रूप धारण किया। दूसरा यह कि प्राकृत स्वयं एक स्वतन्त्र भाषा है। वह न तो वैदिक भाषा से उत्पन्न हुई, न संस्कृत से। कालान्तर में वही रूप बदलकर आयी और हिन्दी कहलायी। तीसरा यह कि प्राचीन वैदिक भाषा ही वह उद्गम स्थान है, जहाँ से समस्त प्राकृत भाषाओं के स्रोत प्रवाहित हुए हैं।

संस्कृत उसी का परिमार्जित रूपान्तर और हिन्दी उन्हीं स्रोतों में से एक स्रोत का सामयिक स्वरूप है। हम मीमांसा करके देखेंगे कि इनमें कौन-सा सिद्धांत उपपत्तिमूलक है।

सबसे पहले प्रथम सिद्धांत को लीजिए। उसके प्रतिपादक संस्कृत और प्राकृत भाषा के कुछ प्राचीन विबुध और हमारी हिन्दी भाषा के कुछ धुरन्धर विद्वान् हैं। उनका यह कथन है:—

"प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवम् तत् आगतम् वा प्राकृतम्।"

—वैयाकरण हेमचन्द्र

"प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम्"।

—प्राकृत चन्द्रिका-कार

"प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतम् योनिः।'

प्राकृत संजीवनी-कार

"यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि प्रकृति संस्कृत होने पर भी कालान्तर में प्राकृत एक स्वतन्त्र भाषा मानी गयी।"

—स्वर्गीय पंडित गोविन्दनारायण मिश्र

"संस्कृत प्रकृति से निकली भाषा ही को प्राकृत कहते हैं।"

—स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी

अब दूसरे सिद्धान्त वालों की बातें सुनिए। इनमें अधिकांश बौद्ध और जैन विद्वान् हैं। अपने 'प्रयोग-सिद्धि' ग्रन्थ में कात्यायन लिखते हैं:—

सा मागधी मूल भासानरा ययादि कप्पिका।
ब्राह्मणो चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे॥

आदि कल्पोत्पन्न मनुष्यगण, ब्राह्मणगण, सम्बुद्धगण, और जिन्होंने कोई वाक्यालाप श्रवण नहीं किया है ऐसे लोग, जिसके द्वारा बातचीत करते हैं, वही मागधी मूल भाषा है।

'पति सम्बिध अत्वूय' नामक ग्रंथ में लिखा है— "मागधी भाषा देवलोक, नरलोक, प्रेतलोक और पशु-जाति में सर्वत्र प्रचलित है। किरात, अन्धक, योणक, दामिल प्रभृति भाषा परिवर्तनशील हैं; किन्तु मागधी आर्य और ब्राह्मणगण की भाषा है। इसलिये अपरिवर्तनीय और चिरकाल से समान रूपेण व्यवहृत है।"

महारूप सिद्धिकार लिखते हैं—"मागधिकाय स्वभाव निरूत्तिया" अर्थात् मागधी स्वाभाविक भाषा (अथवा मूल भाषा है)।

अपने पाली भाषा के व्याकरण की अंग्रेजी भूमिका में श्रीयुत सतीशचन्द्र विद्याभूषण लिखते हैं—"धीरे-धीरे मागधी में, जो इस देश में बोली जाती थी, बहुत-से परिवर्तन हुए और आजकल की भाषाएँ— जैसे बंगाली, मरहठी, हिन्दी और उड़िया इत्यादि उसी से उत्पन्न हुईं।"*

"जैनेरा अर्द्ध मागधी भाषा केई आदि भाषा बलिया मने करेन।"

"जैन लोग अर्ध मागधी भाषा को ही आदि भाषा मानते हैं।"

(बँगला विश्वकोश, पृष्ठ ४३८)

अब तीसरे सिद्धान्तवालों का विचार सुनिये। यह दल समधिक पुष्ट है। इसमें पाश्चात्य विद्वान् तो हैं ही, भारतीय विद्वानों की संख्या भी न्यून नहीं है।

---

* In course of time this Magadhi—the spoken language of the country underwent immense changes, and gave rise to the modern vernaculars such as Bengali, Marhati, Hindi, Uriya etc.

जर्मन विद्वान वेनर कहते हैं—"वैदिक भाषा से ही एक ओर सुगठित और सुप्रणालीबद्ध हो कर संस्कृत भाषा का जन्म और दूसरी ओर मानव प्रकृति-सिद्ध और अनियत वेग से वेगवान प्राकृत भाषा का प्रचलन हुआ। प्राचीन वैदिक भाषा ही क्रमशः बिगड़कर सर्वसाधारण के मुख से प्राकृत हुई।"

(बँगला विश्वकोष, पृष्ठ ४३३)

विश्वकोष के प्रसिद्ध विद्वान् रचयिता स्वयं यह लिखते हैं— "वास्तविक आर्य जाति की आदि भाषा वेद में है। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैदिक भाषा रूप स्रोतस्वती से ही संस्कृत और प्राकृत दोनों धाराएँ निर्गत हुई हैं।"

(बँगला विश्वकोष, पृष्ठ ४३३)

श्रीमान् विधुशेखर शास्त्री अपने 'पालीप्रकाश' नामक बँगला ग्रन्थ में लिखते हैं—"आर्यगण की वेद-भाषा और अनार्यगण की आदिम भाषा में एक प्रकार का संमिश्रण उत्पन्न होने से बहुत-से अनार्य शब्द वर्तमान कथ्य वेदभाषा के साथ मिश्रित हो गये, इस संमिश्रणजात भाषा का नाम ही प्राकृत है।"

(पालिप्रकाश प्रवेशक, पृष्ठ ३६)

हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह अनुमति है—"हमारे आदिम आर्यों की भाषा पुरानी संस्कृत थी, उसके कुछ नमूने ऋग्वेद में वर्तमान हैं। उसका विकास होते-होते कई प्रकार की प्राकृतें पैदा हो गयीं। हमारी विशुद्ध संस्कृत किसी पुरानी प्राकृत से ही परिमार्जित हुई है।"

(हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, पृष्ठ ७२)

अब देखना यह है कि इन तीनों सिद्धान्तों में से कौन-सा सिद्धान्त विशेष उपपत्तिमूलक है। प्रथम सिद्धान्त के विषय में मैं विशेष कुछ

लिखना नहीं चाहता। वेद-भाषा को प्राचीन संस्कृत कहा जाता है, कोई-कोई वेद-भाषा को वैदिक संस्कृत और पाणिनि काल की और उसके बाद के ग्रन्थों की भाषा को लौकिक संस्कृत कहते हैं। प्रथम सिद्धान्त-वालों ने संस्कृत से ही प्राकृत की उत्पत्ति बतलायी है। यदि इस संस्कृत से वैदिक संस्कृत अभिप्रेत है, तो प्रथम सिद्धान्त तीसरे सिद्धान्त के अन्तर्गत हो जाता है और विरोध का निराकरण होता है। परन्तु वास्तव बात यह है कि प्रथम सिद्धान्तवालों का उद्देश्य वैदिक संस्कृत से नहीं, वरन् लौकिक संस्कृत से है। क्योंकि षड्भाषा-चन्द्रिकाकार लिखते हैं:—

भाषा द्विधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः।
कौमार पाणिनीयादि संस्कृता संस्कृतामता।
प्रकृतेः संस्कृता यास्तु विकृतिः प्राकृता मता।

अतएव दोनों सिद्धान्तों का परस्पर विरोधी होना स्पष्ट है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के आसन पर विराजमान होकर इस विषय में विद्वद्वर श्रीमान् बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने युक्ति के साथ उसकी असारता सिद्ध कर दी है। अतएव उसके सम्बन्ध में अब मेरा कुछ लिखना पिष्टपेषणमात्र होगा। सम्भव है कि कुछ विद्वज्जन उनके विचारों से सहमत न हों, संभव है उनकी चिन्ता-प्रणाली अभ्रान्त न हो, विचार-वैचित्र्य अप्रकट नहीं; परन्तु मेरी उनके साथ एकवाक्यता है—केवल इस कारण से भी कि शिक्षा नामक वेदान्त के पाँचवें अध्याय का तीसरा श्लोक भी उनके विचार को पुष्ट करता है। वह यह है—"प्राकृते संस्कृते वापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा" स्वयं आदि पुरुष प्राकृत अथवा संस्कृत बोलते थे। इस श्लोक में प्राकृत को अग्र स्थान दिया गया है, जो पश्चाद्वर्त्ती संस्कृत को उसका पश्चाद्वर्त्ती बनाता है।

दूसरा सिद्धान्त क्या है, उसका परिचय मैं दे चुका हूँ। वह मागधी को आदि कल्पोत्पन्न, मूल भाषा, आदि भाषा और स्वाभाविक भाषा

मानता है। यदि इस भाषा का अर्थ वैदिक भाषा के अतिरिक्त सर्व-साधारण में प्रचलित भाषा है, तो यह सिद्धान्त बहुत कुछ माननीय है। क्योंकि महर्षि पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्रों में वेद अथवा उसमें प्रयुक्त भाषा, छन्द, मंत्र, निगम, आदि नामों से अभिहित है, यथा—विभाषा छन्दसि (१, २, ३६), अयस्मयादीनि छन्दसि (१, ४, २०), नित्यं मन्त्रे (६, १, १०), जनिता मन्त्रे (६, ४, ५३), वावपूर्वस्य निगमे (६, ४, ६,) ससू वेति निगमे (७, ४, ७४)।

परन्तु * भाषाओं के लिये 'लोक' 'लौकिक' अथवा भाषा शब्द का ही प्रयोग उन्होंने किया है। यथा—विभाषा भाषायाम् (६, १, १८१), स्थेंच भाषायाम् (६, ३, २०), प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (७, २, ८८), पूर्वतु भाषायाम् (८, २, ६८)।

परन्तु वास्तव बात यह नहीं है, वरन् वास्तव बात यह है कि मागधी को मूल भाषा अथवा आदि भाषा कहकर वेद-भाषा पर प्रधानता दी गयी है। क्योंकि वह अपरिवर्तनीय मानी गयी है, और कहा गया है कि नरलोक के अतिरिक्त उसकी व्यापकता देवलोक तक है, प्रेतलोक और पशु-जाति में भी वह सर्वत्र प्रचलित है। जिस काल में स्वयं वेदों की अप्रधानता हो गयी थी, उस काल में वेदभाषा का अप्राधान्य माना जाना स्वाभाविक है। धार्मिक संस्कार सभी धर्मवालों के कुछ न कुछ इसी प्रकार के होते हैं।—ऐसे स्थलों पर वितण्डावाद व्यर्थ है, केवल देखना यह है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह विचार कहाँ तक युक्ति-संगत है और पुरातत्त्ववेत्ता क्या कहते हैं। वैदिक भाषा की प्राचीनता, व्यापकता और उसके मूल भाषा अथवा आदि भाषा होने के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों

संस्कृतं प्राकृतं चैवापभ्रंशोथ पिशाचिकी।
मागधी शौरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः॥ प्रा० लक्षण टी०

की सम्मति मैं नीचे उद्धृत करता हूँ—उनसे इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा। संस्कृत भाषा से इन अवतरणों में वैदिक-संस्कृत अभिप्रेत है।

"किसी समय 'संस्कृत' सम्पूर्ण संसार की बोलचाल की भाषा थी।"*

—मिस्टर वाय

† "सर्व-ज्ञात भाषाओं में से संस्कृत अतीव नियमित है। और विशेषतया इस कारण अद्भुत है कि उसके योरप की अद्यकालीन भिन्न-भिन्न भाषाओं और प्राचीन भाषाओं के धातु हैं।"

—मिस्टर कुवियेर

‡ "यह देखकर कि भाषाओं की एक बड़ी संख्या का प्रारम्भ संस्कृत से है, या यह कि संस्कृत से उसकी समधिक समानता है, हमको बड़ा आश्चर्य होता है— और यह संस्कृत के बहुत प्राचीन होने का पूरा प्रमाण है। रेडिगर नामक एक जर्मन लेखक का यह कथन है कि संस्कृत सौ से ऊपर भाषाओं और बोलियों की जननी है। इस संख्या में उसने भारतवर्षीय, सात मीडियन पारसी, दो अरनाटिक अलबानियन, सात ग्रीक, अट्टारह लेटिन, चौदह इसक्लेवानियन और छः गेलिक केल्टिक को रखा है।

---

*At one time Sanskrit was the one language spoken all over the world.

Edinburgh Rev. Vol. XXXIII, 3. 43

† It is the most regular languages known and is especially remarkable, as containing the roots of various languages of Europe and the Greek, Latin, German, of Selavonic— Baron cuvier—

Lectures on the Natural Sciences.

‡ The great number of languages which are said to owe their origin, or bear a close affnitty to the Sanskrit is truly astonishing and is another proof of its high antiquity. A German writer

लेखकों की एक बड़ी संख्या ने संस्कृत को ग्रीक, लैटिन और जर्मन भाषा की अनेक शाखाओं की जननी माना है, या इनमें से कुछ को संस्कृत से उत्पन्न हुई किसी दूसरी भाषा द्वारा निकला पाया है, जो कि अब नाश हो चुकी है।

सर विलियम जोन्स और दूसरे लोगों ने संस्कृत का लगाव पारसी और ज़िन्द भाषा से पाया है।

हालहेड ने संस्कृत और अरबी शब्दों में समानता पायी है, और यह समानता केवल मुख्य-मुख्य बातों और विषयों में ही नहीं, वरन् भाषा की तह में भी उन्हें मिली है। इसके अतिरिक्त इन्डो चाइनीज़ और उस भाग की दूसरी भाषाओं का भी उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

—मिस्टर एडलिंग

(Rudiger) has asserted it to be the parent of upwards of a hundred languages and dialects, among which he enumerates twelve Indian, seven Median-Persic, two Arnantic-Albanian, seven Greek, eighteen Latin, fourteen Sclavonian, and six Celtic-Gallic,

× × ×

A host of writers have made it the immediate parent of the Greek, and Latin, and German families of languages, or regarded some of these as descended from it through a language now extinct. With the persian and Zend it has been almost identified by sir William Jones and others. Halhed notices the similitude of Sanskrit and Ardic Words, and this not merely in technical and metaphorical terms, but in the main ground work of language In a contrary direction the Indo-Chinese and other dialects in that quarter, all seen to be closely allied to it—*Adcling Sans.Litcrature, H.* 38-40.

*"पुरातन ब्राह्मणों ने जो ग्रन्थ हमें दिये हैं, उनसे बढ़कर निर्विवाद प्राचीनता के ग्रन्थ पृथ्वी पर कहीं नहीं मिलते।" —**मिस्टर हालहेड**

"जिन्द के दस शब्दों में से ६ या ७ शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं।"

—**मिस्टर हैमर**

"जिन्द और वैदिक संस्कृत का इतना अन्तर नहीं जितना वैदिक संस्कृत और संस्कृत का है।"

— **मैकडानैल—ईश्वरीय ज्ञान, पृष्ठ ६३, ६४, ६६, ६७.**

संसार की आर्य जातीय भाषाओं के साथ वैदिक भाषा का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए मैं यहाँ कुछ शब्दों को भी लिखता हूं—

संस्कृत	मीडी	यूनानी	लैटिन	अंग्रेजी	फारसी
पितृ	पतर	पाटेर	पेटर	फ़ादर	पिदर
मातृ	मतर	माटेर	मेटर	मदर	मादर
भ्रातृ	ब्रतर	फाटेर	फ्रेटर	ब्रदर	बिरादर
नाम	नाम	ओनोमा	नामेन	नेम	नाम
अस्मि	अह्मि	ऐमी	एम	ऐम	अस

अवतरणों को पढ़ने और ऊपर के शब्दों का साम्य देखकर यह बात माननी पड़ेगी कि वैदिक भाषा अथवा आर्ष जाति की वह भाषा जिसका वास्तव और व्यापक रूप हमको वेदों में उपलब्ध होता है, आदि भाषा अथवा मूल भाषा है। यदि संसार भर की भाषाओं की जननी हम उसे न मानें, तो भी हमें आर्य भाषा से प्रसूता जितनी भाषाएँ हैं, उनकी आधारभूता अथवा जन्मदात्री तो उसे मानना ही पड़ेगा और ऐसी अवस्था

---

*The words does not now contain annals of more indisputable antiquity than those delivered down by the ancient Brahmans.— *Halhed, Code of Hindu lcws.*

में मागधी भाषा को मूल भाषा अथवा आदि भाषा कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है, आप लोग स्वयं इसको सोच सकते हैं।

पालिप्रकाश-कार कहते हैं—"समस्त प्राकृतों में पालि ही सबसे प्राचीन है; यह भी कहा गया है कि प्राकृत संस्कृत की पूर्ववर्ती है। इसलिए सिंहल के पालि वैयाकरणों की पालि के प्राचीनत्व सम्बन्ध में जो धारणा है, उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"　　**—(पालिप्रकाश प्रवेशक, पृ० ९५)**

वास्तव में इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पालि ही मूल अथवा आदि भाषा है। पालिप्रकाश-कार एक स्थान पर लिखते हैं—"पालि भाषा का दूसरा नाम मागधी है और यह उसका भौगोलिक नाम है—पृष्ठ १३।" दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—"मूल प्राकृत जब इस प्रकार उत्पन्न हुई, तो उसके अन्यतम भेद पालि की उत्पत्ति का कारण भी यही है, यह लिखना बाहुल्य है—पृष्ठ ४८।" उक्त महोदय का यह वाक्य इस भाव का व्यंजक है कि पालि अथवा मागधी से मूल प्राकृत को प्रधानता है। ऐसी अवस्था में वह आदि और मूल भाषा कैसे हुई! तात्कालिक कथ्य वेदभाषा के साथ अनार्य भाषा के सम्मिश्रण से जो भाषा उत्पन्न हुई, उसे वे मूल प्राकृत मानते हैं। अतएव मूल प्राकृत भाषा, कथ्य वेद भाषा की अंगजा हुई, अतः वेद-भाषा उसकी भी पूर्ववर्ती हुई, फिर पालि अथवा मागधी मूल भाषा किम्वा आदि भाषा कैसे मानी जा सकती है! विश्वकोषकार ने वैदिक संस्कृत से आर्ष प्राकृत, पालि और प्राकृत का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए शब्दों की एक लम्बी तालिका पृष्ठ ४३४ में दी है। उनके देखने से यह विषय और स्पष्ट हो जायगा; अतएव उसके कुछ शब्द यहाँ उठाये जाते हैं। विश्वकोषकार ने पालि-प्रकाश के मूल प्राकृत के स्थान पर आर्ष प्राकृत लिखा है—

संस्कृत	आर्ष प्राकृत	पालि	प्राकृत
अग्निः	अग्गि	अग्गि	अग्गी

बुद्धिः	बुद्धि	बुद्धि	बुद्धी
मया	मये, मे	मया, मये, मइ, मे,	ममए
त्वम्	त्वं, तुमन	त्वं, तुवम् तं, तुमं,	तुवम्
षोड़श	सोलह	सोलह	सोलह
विंशति	वीसा	वीसती, वीसम्	वीसा
दधि	दहि, दहिम्	दधि	दहि दहिम्

प्रसिद्ध हिन्दी उन्नायक बाबू श्यामसुन्दरदास ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रथम भाग में जो लेख भारतवर्षीय आर्य-देशभाषाओं के प्रादेशिक विभाग पर लिखा है, उसके अन्त में उक्त महोदय ने एक नकशा लगाया है। उस नकशे में उन्होंने वैदिक संस्कृत से प्राचीन प्राकृत की और प्राचीन प्राकृत से मागधी और अर्ध मागधी की उत्पत्ति दिखलायी हैं। यह नकशा भी इसी विचार को पुष्ट करता है कि मागधी मूल भाषा नहीं है।

'प्राकृतलक्षण-कार' चण्ड ने आर्ष प्राकृत को, प्राकृतप्रकाश-कार वररुचि ने महाराष्ट्री को, प्रयोगसिद्धि-कार कात्यायन ने मागधी को, जैन विद्वानों ने अर्ध-मागधी को आदि प्राकृत अथवा मूल प्राकृत लिखा है। पालिप्रकाश-कार पालि को सब-प्राकृतों में प्राचीन बतलाते हैं—कुछ लोग दोनों को दो भाषा समझते हैं और अपने कथन के प्रमाण में दोना भाषाओं के कुछ शब्दों की प्रयोग-भिन्नता दिखलाते हैं। ऐसे कुछ शब्द नीचे लिखे जाते हैं—

संस्कृत	पालि	मागधी
शश	ससा	मो
कुक्कुट	कुक्कुटो	रो
अश्व	अस्स	साँगा
श्वान	सुनका	साच
व्याघ्र	व्यघ्घो	वी

जो अभेदवादी हैं, वे इन शब्दों को मागधी भाषा के देशज शब्द मानते हैं। जो हो, किन्तु अधिकांश विद्वान् पालि और मागधी को एक ही मानते हैं। इस प्रकार के मतभेद और खींच-खाँच का आधार कुछ धार्मिक विश्वास और कुछ आपेक्षिक ज्ञान की न्यूनता है। अतएव अब मैं इस विषय में कुछ विशेष लिखना नहीं चाहता। केवल एक कथन की ओर आप लोगों की दृष्टि और आकर्षित करूँगा। वह यह कि कुछ लोगों का यह विचार है कि मागधी को देशभाषामूलक मानकर मूल भाषा कहा गया है। किन्तु यह सिद्धान्त मान्य नहीं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो द्राविड़ी और तैलगू आदि देशभाषाओं के समान वह भी एक देशभाषा मानी जाती, परन्तु उसको किसी पुरातत्त्ववेत्ता ने आज तक ऐसा नहीं माना। वह आर्षभाषा संभवाही मानी गयी हैं; इसलिये यह तर्क सर्वथा उपेक्षणीय है। आर्षभाषा-संभवा वह इसलिये मानी गयी है कि उसकी प्रकृति आर्षभाषा अथवा वेदभाषामूलक है। प्राकृत भाषा के जितने व्याकरण हैं, उन्होंने संस्कृत के शब्दों अथवा प्रयोगों-द्वारा ही प्राकृत के शब्दों और रूपों को बनाया है। प्राकृत भाषा का व्याकरण सर्वथा संस्कृतानुसारी है। संस्कृत और प्राकृत के अधिकांश शब्द एक ही झोले के चट्टे-बट्टे अथवा एक फूल के दो दल, अथवा एक चना के दो दाल, मालूम होते हैं। थोड़े-से ऐसे शब्द नीचे लिखे जाते हैं :—

संस्कृत	मागधी	संस्कृत	मागधी
कृतं	कतं	ऐश्वर्य्यं	इस्सरियं
गृहं	गहं	मौक्तिकं	मुत्तिकं
घृतं	घतं	पौरः	पोरो
वृत्तान्तः	वृत्तन्तो	मनः	मनो
चैत्रः	चित्तो	भिक्षु	भिक्खु
क्षुद्रं	खुद्दं	अग्निः	आगी

संस्कृत के एक श्लोक का प्राकृत रूप देखिये। पहला शुद्ध मागधी, दूसरा अर्ध-मागधी है।

रभश वशनम्र सुर शिरो विगलित मन्दार राजितांघ्रि युगः।
वीर जिनः प्रक्षालयतु मम सकलमवद्य जम्बालम्॥

१ लहश वशनमिल शुलशिल-विअलिद मन्दाल लायिदंहि युगे।
वील यिणे पक्खालदु मम शयल मवय्य यम्बालम्॥

२ लभश वशन मिल शुलशिल-विअलिद मन्दाल लाजि दहियुगे।
वोल जिणे पक्खालदु मम शयल मवज्ज जम्बालम्॥

संस्कृत के श्लोक में और उसके प्राकृत रूप में कितना अधिक साम्य है, वह आप लोग स्वयं समझ सकते हैं। जो बातें ऊपर कही गयी हैं, वे भी कम उपपत्तिमूलक नहीं। ऐसी अवस्था में यदि प्राकृत भाषा वेदभाषामूलक नहीं है तो क्या देशभाषामूलक है? वास्तव में मागधी अथवा अर्द्ध-मागधी, किम्वा पालि की जननी वैदिक संस्कृत है, और यही तीसरा सिद्धान्त है जिसको अधिकांश विज्ञानवेत्ता स्वीकार करते हैं; ऐसी दशा में दूसरे सिद्धान्त की अप्रौढ़ता अप्रकट नहीं।*

---

*परिशिष्ट ४

हिन्दी भाषा का विकास

विदेशी विद्वानों का मत है कि आर्य जाति मध्य एशिया से भारतवर्ष में आयी, कोई कहता है तिब्बत से, कोई कहता है हिन्दूकुश अथवा काकेशस के आस-पास से। कुछ लोग इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं, पश्चिमी यूरोप अथवा आरमेनिया, किम्बा ऑक्सस नदी का कान्त कूल उनका आदिम निवास-स्थान था। अन्तिम मत यह है कि प्राचीन आर्य लोग दक्षिण रूस के सुन्दर पहाड़ी प्रदेश के रहनेवाले थे। किन्तु अनेक भारतीय विद्वान् इन विचारों से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं, पवित्र भारतवर्ष ही हमारा क्रीड़ा-क्षेत्र और आदिम निवासस्थल है। वे स्वर्गोपम काश्मीर प्रदेश अथवा उसके समीपवर्ती संसार में सर्वोच्च पामीर आदि भू-भाग को अपनी आदि जन्मभूमि मानते हैं। वे कहते हैं, उसी स्थान से मुख्य निवासी आर्य भारतवर्ष में पूर्व और दक्षिण में बढ़े और यहीं से आर्य जाति की कुछ शाखाएँ ईरान होती हुई दूसरे प्रदेशों में गयीं। इस विषय में विस्तृत समालोचना करने का स्थान नहीं; अतएव अब मैं प्रकृत विषय लिखने में प्रवृत होता हूँ। यह निश्चित है कि जन्म-ग्रहण-उपरान्त आर्य जाति चिरकाल तक काश्मीर प्रदेश में अथवा उसके निकटवर्ती भू-भाग में रही और फिर वह वहाँ से कई दलों में विभक्त

होकर पूर्व-दक्षिण और उत्तर-पश्चिम की ओर फैली। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ७५ वें सूक्त में 'नद्यो देवताः' सम्बन्धी मन्त्रों में नदियों का वर्णन है। उनमें गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता, सरयू, गोमती, विपाशा आदि उन नदियों का नाम आया है जो इस समय भी पंजाब प्रान्त और हमारे पश्चिमोत्तर प्रदेश में वर्तमान हैं। इससे यह पता चलता है कि वैदिक काल में हमारी आर्य जाति इन्हीं प्रदेशों में निवास करती थी, और यही कारण है कि यह प्रदेश 'आर्यावर्त' कहलाया। इस प्रदेश में निवास करते हुए आर्य जाति का सम्बन्ध यहाँ के आदिम निवासियों से स्थापित हुआ, और यहीं पर आर्य-भाषा के बहुत-से शब्द आर्येतर जातियों ने और बहुत-से आर्येतर जातियों के शब्द आर्यों ने ग्रहण किये। स्थिति और आवश्यकता के अनुसार यह आदान-प्रदान बढ़ता गया और आर्ष प्राकृत की उत्पत्ति हुई। अतएव आर्ष प्राकृत की उत्पत्ति का स्थान आर्यावर्त कहा जा सकता है। इसके उपरान्त ज्यों-ज्यों आर्य जाति पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ती गयी त्यों-त्यों उसका सम्बन्ध नयी-नयी आर्येतर जातियों से होता गया। साथ ही उनकी नित्य की व्यवहृत भाषा का प्रभाव भी उनकी आर्ष प्राकृत पर पड़ा, और यही स्थानपरक प्राकृतों की उत्पत्ति का कारण हुआ जैसा कि मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अवन्ती आदि स्थान-सम्बन्धी नामों से ही प्रकट होता है। श्रीयुत स्वर्गीय पण्डित बदरीनारायण चौधरी ने अपने व्याख्यान में लिखा है—"महाराष्ट्री शब्द से प्रयोजन दक्षिण देश से नहीं, किन्तु भारतरूपी महाराष्ट्र से है।" प्राकृतप्रकाश-कार वररुचि भी कुछ इसी विचार के मालूम होते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त एकदेशीय है। वास्तव बात यह है कि महाराष्ट्री नाम देशपरक है, चाहे किसी काल में वह बहुदूरव्यापिनी भले ही रही हो। 'प्राकृत-लक्षण' कार चण्ड ने चार प्राकृत का उल्लेख किया है—'प्राकृत', 'अपभ्रंश', 'पैशाचिकी' और 'मागधी' उनकी संज्ञा है। प्राकृत से उनका अभिप्राय आर्ष प्राकृत से

है। 'प्राकृत-लक्षण' के टीकाकार षड्भाषा मानते हैं। वे उपर्युक्त चार नामों में संस्कृत और शौरसेनी का नाम बढ़ाते हैं। वररुचि महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी चार और हेमचन्द्र मूल प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश छः प्राकृत बतलाते हैं। हमारी हिन्दी-भाषा का सम्बन्ध शौरसेनी और अपभ्रंश से है। इन प्राकृतों के विषय में अध्यापक लासेन की सम्मति देखने योग्य है। वे कहते हैं—"वररुचि वर्णित महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची, इन चार प्रकार के प्राकृतों में शौरसेनी और मागधी ही वास्तव में स्थानीय भाषाएँ हैं। इन दोनों में शौरसेनी एक समय में पश्चिमाञ्चल के विस्तृत प्रदेश की बोलचाल की भाषा थी। मागधी अशोक की शिला-लिपि में व्यवहृत हुई है और पूर्व भारत में यही भाषा किसी समय प्रचलित थी। महाराष्ट्री नाम होने पर भी यह महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा नहीं कही जा सकती। पैशाची नाम भी कल्पित मालूम होता है।"

(विश्व-कोष, पृष्ठ ४३८)

प्रायः कहा जाता है कि पुस्तक की अथवा लिखित भाषा में और बोलचाल की भाषा में अन्तर होता है। यह बोलचाल की भाषा सहित्य में विकृत हो जाती है, यह बात स्वीकार की जा सकती है; पर सर्वथा सत्य नहीं है। हृदय का वास्तविक उद्‌गार यदि हम चाहें तो अपनी बोलचाल की भाषा में भी प्रकट कर सकते हैं, वरन् पुस्तक की अथवा लिखने की भाषा से इस प्रकार की रचना कहीं अधिक हृदयग्राहिणी, मनोहर और भावमयी हो सकती है। यह दूसरी बात है कि प्रान्तिक भाषा में होने के कारण उसके समझनेवालों की संख्या परिमित हो। हमारे हिन्दी-संसार में कुछ ऐसे सहृदय कवि भी हो गये हैं जिन्होंने बोलचाल की भाषा में कविता लिखकर कमाल कर दिया है। इन सहृदयों में सबसे पहिले मेरी दृष्टि 'घाघ' पर पड़ती है। उनकी समस्त रचना बोलचाल की भाषा में

है और उसमें गजब का जादू है। देखिये, वह भगवान् बैकुंठनाथ के बैकुंठ को भी कुंठित करके क्या कहते हैं—

भुइयाँ खेड़े हर व्है चार। घर व्है गिहथिन, गऊ दुधार।
रहर दाल जड़हन का भात। गागल निबुआ औ, घिव तात।
सहरस खंड दही जो होय। बाँकै नैन परोसे जाय।
कहै घाघ तब सब ही झूठा। उहाँ छाड़ि इहवैं बैकुण्ठा।

सुनिये, एक ब्राह्मण देवता की बातें सुनिये—आप बड़े बिगड़े दिल और चिड़-चिड़े थे। कुछ दुख पाकर एक बार अपने राम से खीज गये। फिर क्या था, उबल पड़े। बड़ी जली-कटी सुनायी। उनकी बातें हों बेढंगी, पर दिल के भाव का सच्चा फोटो उनमें मौजूद है। कहते हैं:—

घर से निकसतै .बापै खैलैं। पंचवटी हेरवउलैं नार।
ढेकुली के अड़वाँ से बाली मरलैं। ए दसरथ के बंड बोहार।

स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र की बैसवाड़ी में लिखी गयी कविता की बहार देखिये—

हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम नक न्याय गयन।
करत धरत कछु बनतै नाहीं, कहाँ जान औ' कैस करन॥
छिन भिर चटक छिनै मा मद्धिम जस बुझात खन खोय दिया।
तैसे निखवख देख परत हैं हमरी अक्किल के लच्छन॥

यदि इन पद्यों में वास्तविक हृदय के उद्गार प्रकट हुए हैं, तो बोल-चाल की भाषा में क्यों उत्तम कविता न हो सकेगी? सैकड़ों गाने की चीजें, ठुमरियाँ, कजलियाँ, बिरहे, लोरिक, पचरे, आल्हे बिल्कुल बोलचाल की भाषा में लिखे गये हैं और आज तक प्रचलित हैं। जनता में उनका कम आदर भी नहीं। फिर कैसे कहा जाय कि बोलचाल की भाषा काव्य

अथवा कविकृति की भाषा नहीं हो सकती। मेरा विचार है कि पवित्र वेदों की भाषा बिल्कुल सामायिक बोलचाल की भाषा है। उसकी सरलता, सादगी, स्वाभाविकता, उसके छन्दों की गति यह बतलाती है कि वह कृत्रिम भाषा नहीं है। जिस समय किसी लिपि का प्रचार तक नहीं हुआ था, ब्राह्मी लिपि ब्रह्मदेव के विचार-गर्भ में थी, लेखनी विधि की ललाट-लेखा भी न लिख सकी थी, और पुस्तक भगवती वीणा-पुस्तक-धारिणी के पद्मपाणि में भी सुशोभित नहीं थी, उस समय श्रुति, श्रवण-परम्परा द्वारा भारतीय आर्य जाति का हृदय सर्वस्व थी। जो श्रुति स्वाभाविकता की मूर्ति है, उसमें अस्वाभाविकता की कल्पना भी नहीं हो सकी। श्रुति ही वेद भाषा स्वरूपा है। यही वेद-भाषा स्थिति, प्रगति और देश-कालस्वरूपा है। यही वेद-भाषा स्थिति, प्रगति और देश-काल के प्रभाव से परिवर्तित होकर उच्चारणभिन्नता और अनेक नवीन शब्दों के संसर्ग से आर्ष प्राकृत में परिणत हुई। आर्ष प्राकृत का पूर्ण विकास होने पर वेदभाषा उस अवस्था को प्राप्त हुई जो कि नियति का नियम है। अब वह सर्वसाधारण की भाषा न थी, अतएव विद्वद्वृंद का हृदय-तल अथवा उनका मुख-प्रदेश ही उसका निवासस्थल था। ब्राह्मी लिपि का उद्भावन होने पर यथा-समय उसको पुस्तक का स्वरूप भी मिला।

जिस समय वेद-भाषा आर्ष प्राकृत का रूप धारण कर रही थी, उसी समय कुछ संस्कार-प्रिय विद्वज्जनों ने उसे संस्कृत किया, और इस प्रकार संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई। ज्ञात होता है, वेदांग शिक्षा के इस अर्द्ध-श्लोक का 'प्राकृते संस्कृते चैव स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा' यही मर्म है। संस्कृत यद्यपि विद्वद्वृन्द में ही प्रचलित रही है, यद्यपि वह उन्हीं के परस्पर सम्भाषण और धार्मिक कार्य-कलाप की सम्बल मानी गयी है, किन्तु उसका भण्डार अलौकिक और अद्भुत है। वह नन्दन कानन-समान कान्ति निकेतन और चारु चिंतामणि सदृश अनन्त लोकोत्तर चिन्ताओं का आगार है। वह कल्पना कल्पतरु, कमनीयता कामधेनु, भाव का सुमेरु, माधुर्य

निर्झर का मनोहर सलिल, ध्वनि-वीणा का मनोमुग्धकर झङ्कार और कल कुमुदिनी का कान्त कलाधर है। वह कटस्थ अचल हिमाचल समान समुन्नत पुनीत ज्ञान सुरसरि-प्रवाह का जनक, भाव-भक्ति भानुनन्दिनी का उत्पादक और अनुपम विचार-रत्न-राजि का आकर है। उसी के समान उसमें से अनेक छोटे-बड़े धर्म के परम पवित्र सोते निकलते हैं, संसार को सरस करते हैं, मानसों में मन्द-मन्द बहते हैं, जिन कल-कल ध्वनि से निर्जीव को सजीव बनाते हैं, मूढ़ प्रकृति मरुभूमि की मरुभूमिता खोते हैं, पाहन हृदय को स्निग्ध रखते हैं, कलित-कामना-क्यारियों को सींचते हैं, प्रेम-पादप-पुंज को पानी पिलाते हैं और कहीं तरंगिणी का स्वरूप धारण कर सद्भाव-प्रान्त को पय-सिक्त कर देते हैं। वेद एक देशवर्ती मानसरोवर है जिसमें विवेक का निर्मल नीर भरा है, जिसके वेदान्त, सांख्य, न्याय, मीमांसा-जैसे बड़े ही मनोरम घाट हैं, जिसमें उपनिषद्-उपदेश के अनूठे उत्पल सुविकसित हैं, और जिसके अनुकूल कूल पर संसार भर के नीर-क्षीर विवेकी मानस मराल सदैव क्रीड़ा करते रहते हैं। जिस समय महिमामयी मागधी के तुमुल कोलाहल से भारतीय गगन ध्वनित हो रहा था, उस समय कुछ दिनों तक संस्कृत देवी का महान् कंठ अवश्य कुण्ठित हो गया था; किन्तु जल्द समय ने पलटा खाया, फिर उनकी पूजा-अर्चा और पद-वन्दना होने लगी। उनकी महत्ता देखकर मागधी अवनत मस्तक हुई, बौद्ध धर्म के ग्रंथ संस्कृत में लिखे जाने लगे, ललित विस्तर-जैसे ललित ग्रन्थों की रचना हुई, बौद्ध धर्म के साथ वह देशान्तरों में भी पहुँची और वहाँ हाथोंहाथ ली गयी। समस्त प्राकृत भाषाएँ अपना काल बिताकर अव्यवहृत हुईं; किन्तु संस्कृत की अबाध सत्ता आज भी भारतवर्ष की समस्त प्रचलित भाषाओं को अपने तत्सम शब्दों द्वारा सत्तामयी बना रही है। आज भी प्राचीन भाषाओं के सुसज्जित सभा-मंडप में वह सिंहासनासीन हैं, और आज भी उसकी पुस्तकव्यापिनी भाषा रूपान्तर से देश-व्यापिनी होकर अपनी विजय-वैजयन्ती-उत्तोलन कर रही है।

संस्कृत अर्चा की बातें कहने में मैं आर्ष प्राकृत की चर्चा को भूल गया। जब आर्ष प्राकृत अधिक व्यापक हो गयी और अनेक प्रान्तों पर उसका अधिकार हो गया तो उसका रंग रूप भी बदला और उसका स्थान प्रान्तीय प्राकृत ने धीरे-धीरे ग्रहण कर लिया। इन प्रान्तीय प्राकृतों में मागधी और शौरसेनी की प्रभा के सामने शेष समस्त प्राकृतों की प्रभा मलिन हो जाती है। मागधी भगवान बुद्धदेव के आत्मबल के बलवती और प्रियदर्शी अशोक की धर्मप्रियता से समुन्नत हुई और चिरकाल तक भारत-व्यापिनी रही। शौरसेनी को यह गौरव तो नहीं प्राप्त हुआ, परन्तु वह भी बहुत दिनों तक भारतवर्ष के एक बृहत्भाग पर विस्तृत रही, पश्चात् अपभ्रंश भाषा में परिणत हो गयी। यही अपभ्रंश भाषा हमारी हिन्दी भाषा की जननी है।

किस प्रकार वेदभाषा बदलते-बदलते हिन्दी भाषा के रूप में आयी, इसका उदाहरण मैं नीचे देता हूँ। मैं कुछ पद्य आर्ष प्राकृत, शौरसेनी, अपभ्रंश और तदुपरान्त हिन्दी भाषा के लिखता हूँ। आशा है, उनसे हिन्दी भाषा के विकास पर पूर्ण प्रकाश पड़ेगा। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र की यह सम्मति है कि आदि प्राकृत का रूप गाथाओं में मिलता है। उनके इस सिद्धान्त का अनुमोदन मनीषी मैक्समूलर और डाक्टर वेबर आदि विद्वानों ने भी किया है। कहा जाता है कि आर्य प्राकृत का पूर्वरूप गाथाओं में ही मिलता है। एक गाथा नीचे लिखी जाती है:—

अध्रुवम् त्रिभवम् शरदभ्र निभम्।
नट रंग समा जगि जन्मि च्युति।
गिरि नद्य समम् लघु शीघ्र जवम्।
व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे।

संस्कृत के नियम के अनुसार दूसरे चरण के **नट रंग समा** को **नट रंग समम्**, **जगि** को **जगति**, **जन्मि** को **जन्म**, **च्युति** के स्थान पर

च्युतिः तीसरे चरण में **गिरि नद्य समम्** के स्थान पर **गिरि नदी समम्** और चौथा चरण **व्रजत्यायुर्जगति** यथा **विद्युद् नभर्सि** होना चाहिए। यह पद्य यह बतलाता है कि किस प्रकार संस्कृत प्रयोगों और शब्दों का तोड़-फोड़ आदि में प्रारम्भ हुआ। इसके बाद का आर्ष प्राकृत रूप देखिये।

रभस वश नम्र सुरशिरो-विगलित मन्दार राजितांघ्रि युगः।
वीर जिनः प्रक्षालयतु मम सकलमवद्य जम्बालम्।

यह संस्कृत-रूप है—आर्ष प्राकृत का रूप नीचे लिखा जाता है। देखिये कितना थोड़ा परिवर्तन है।

रभस वस नम्म सुरसिरि-विगलित राजितांघि युगो।
वीर जिनो पक्खालेतु-मम सकल मवज्ज जम्बालम्॥

शौरसेनी रूप कितना परिवर्तित है, यह नीचे लिखे पद्य से प्रकट होगा। पहिले संस्कृत-रूप उसके नीचे प्राकृत रूप लिखा जाता है।

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमार केसर शिखानि।
अवतंस यन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीष कुसुमानि॥
ईसीसि चुम्बिआइं भमरेहिं सुउमार केसर सिहाइं।
ओदंसयन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीस कुसुमाइं॥

विदग्ध मुखमण्डनकार ने अपभ्रंश भाषा की निम्नलिखित कविता बतलायी है—

रसिअह केण उच्चाडण किज्जइ।
जुयदह माणसु केण उविज्जइ।
तिसिय लोउ खणि केण सुहिज्जइ।
एह यहो मह भुवणे विज्जइ।

इसका संस्कृत-रूप देखिये—

रसिकानां केनोच्चाटनं क्रियते, युवत्याः मानसं केनोद्विज्यते। तृषितो लोक क्षणं केन सुखी क्रियते, एतदयं मम (प्रश्नः) भुवने गीयते।

वैयाकरण हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का यह उदाहरण दिया है—

वाह विछोड़वि जाहि तुहुंहउंते वइं को दोसु।
हिय पट्टिय जद नीसरहिं जाणउं मुंज सरोसु।

अब हिन्दी भाषा के आदि कवि चन्द की रचनाओं से इन अपभ्रंश भाषा की कविताओं को मिलाइये, देखिये कितना साम्य है।

ताली खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अद्भुत।
दिव्व देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत।
कवी कित्त कित्ती उकत्तो सुदिष्षो।
तिनक्को उचिष्टो कवी चन्द भष्षी।

अपभ्रंश भाषा की कविता से चन्द की कविता कितनी मिलती है, दोनों में कितना साम्य है। परिवर्तन होते-होते अपभ्रंश भाषा की कविता संस्कृत से कितनी दूर हो गयी और वर्तमान हिन्दी के कितनी निकट आ गयी, यह भी प्रकट हो गया। कविवर चन्द तेरहवें शतक के आदि में हुए हैं। कहा जाता है कि ग्यारहवें शतक के अन्त तक अपभ्रंश का प्रचार था, इसके उपरान्त वह हिंदी के रंग में ढलने लगी। कवि चन्द हिन्दी भाषा के चासर हैं। उनके पहले भी कुछ कवि हो गये हैं, जिनमें खुमान, कुतुब अली, साईं दानचारण, फ़ैज़अकरम और पुष्प कवि का नाम विशेष उल्लेख योग्य है; परन्तु हिन्दी भाषा के आदिम प्रौढ़ कवि चन्द बरदाई ही हैं। इनके पहले के कवियों को न तो कोई काव्य कहलाने योग्य उत्तम ग्रंथ मिलते हैं और न उनकी भाषा ही टकसाली

अथवा वास्तविक हिन्दी कही जा सकती है; अतएव हिन्दी भाषा के आदि कवि होने का सेहरा चंद बरदाई के ही सिर है।

चंद बरदाई का ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' विशाल ग्रंथ है। उसकी भाषा में भी भिन्नता है। उसमें कई प्रकार की रचनाएँ हैं। वह केवल चंद की कृति भी नहीं है, ग्रंथ का अन्तिम भाग उसके योग्य पुत्र जल्ह द्वारा लिखा गया है; अतएव रासो के विषय में संदिग्ध बातें कही-सुनी जाती हैं—तथापि उसकी अधिकांश भाषा, ग्रंथ की सामयिक बातों पर वास्तविक उल्लेख, उस काल की सभ्यता के आदर्श, रासो को हिन्दी भाषा का आदि ग्रंथ मानने के लिए विवश करते हैं। कुछ उसकी भिन्न प्रकार की रचनाएँ यहाँ उद्धृत करता हूं:—

दोहा

पूरन सकल बिलास रस, सरस पुत्र फल दान।
अन्त होइ सहँ गामिनी, नेह नारि को मान॥
समदरसी ते निकट है, भुगति मुगति भरपूर।
विखम दरस वा नरन ते सदा सरवदा दूर॥

ये पद्य बिलकुल प्रौढ़ हिन्दी काल के मालूम होते हैं—

हरित कनक कांति कापि चंपेव गौरी।
रसित पदुम गंधी फुल्ल राजीव नेत्री।
उरज जलज शोभा नाभि कोशं सरोजं।
चरण कमल हस्ती लीलया राजहंसी।

ऊपर जो दो कविताएँ लिख आया हूं, वे इन दोनों रचनाओं से भिन्न हैं। अधिकांश स्थल पर चन्द की कविता बड़ी मनोहारिणी है। संभव है कि रासो में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी हों; किन्तु जिन कविताओं में चन्द या जल्ह का नाम आया है, उनके तात्कालिक रचना होने में सन्देह

नहीं। रासो बड़ा सुन्दर काव्य है और साहित्य की सम्पूर्ण कलाओं से अलंकृत है।

कविवर चन्द बरदाई के बाद चौदहवें शतक के मध्य काल में हमारे सामने दो भाषाओं के दो महान् विद्वान् आते हैं—एक संस्कृत विद्या का विदग्ध और दूसरा अरबी-फारसी का आलिम। दोनों ही भगवती वीणा-पाणि के वरद पुत्र, सरस हृदय और कविता देवी के भावुक भक्त हैं। उन्होंने हिन्दी के मनोरम उद्यान में बड़े सुन्दर सुमन खिलाये हैं। एकने पूर्वी हिन्दी की उज्ज्वल और परम ललित रचना की नींव डाली है और दूसरे ने खड़ी बोली की मनोहर कविता का आदि रूप सामने उपस्थित किया है। एक मैथिल-कोकिल है और दूसरा बुलबुल हजार दास्तान। एक का नाम है विद्यापति ठाकुर और दूसरे का अमीर खुसरो। यदि कोमल-कान्त-पदावली के जनक संस्कृत में जयदेव हैं, तो हिन्दी भाषा में कलित-ललित मधुर रचना के पिता विद्यापति। वे हृत्तन्त्री को निनादित कर कहते हैं—

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुञ्जकुटीरे।

तो ये मानस-मृदंग को मुखरित कर यों मधुर आलाप करते हैं—

नन्दक नन्दन कदम्बेर तरु तरे धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय सँकेत निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव।
जमुना क तिर उपवन उदवेगल फिर-फिर ततहि निहारि।
गोरस बिकइ अबइते जाइत जनि जनि पुछ बनमारि।

इस सुधा-स्रावी सज्जन के इस वाक्य पर 'माह भादर भरा बादर सून्य मन्दिर मोर' बंगाल का सहृदय-समूह विमुग्ध हो जाता है; किन्तु उनके इस प्रकार के सहस्रों ललित पद उनके ग्रन्थ में मौजूद हैं। अब हमारे बुलबुल हज़ार दास्तान की नग़मा सराई सुनिये।

जे हाल मिसकीं मकुन तगा फुल दुराय नयना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्राँ न दारम ऐ जां न लेहु काहें लगाय छतियाँ।
यकायक अज दिल दो चश्मे जादू बसद फरेबम बेबुर्द तसकीं।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पिआरे पी को हमारी बतियाँ॥

इन पद्यों में जो हिन्दी का रूप है, उसमें आदि के दो पद्यों में सरस ब्रजभाषा का सुन्दर नमूना है। नीचे के हिन्दी-पद्य में से यदि 'बतियाँ' को निकाल दें तो वह खड़ी बोली का बड़ा अनूठा उदाहरण है। नीचे के दोहे कितने मनोहर हैं—

खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को भये दोऊ एक रंग।
श्याम सेत गोरी लिये जनमत भई अनीत।
एक पल में फिर जात हैं जोगी काके मीत।
गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस।

इस सहृदय सुकवि की एक बिल्कुल खड़ी बोली की कविता देखिये, यह आकाश की पहेली है—

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चार ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥

इन दोनों सज्जनों की कविताओं को पढ़कर आश्चर्य होता है कि किसी आदर्श के न होने पर भी इन लोगों ने कितनी सरस, टकसाली और सुन्दर हिन्दी लिखी है। मेरा विचार है कि कोई कविता-पुस्तक न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस इस प्रकार की भाषा का देश में उस काल प्रचार न था। सैकड़ों भजन, गीत और गाने की चीजें उस समय अवश्य होंगी और उनसे इन लोगों को कम सहारा न मिला

होगा, यही बात चन्द बरदाई के लिए भी कही जा सकती है। मैथिल-कोकिल की भाषा तो इतनी प्यारी और सुन्दर है, उनका कल-कूजन इतना आकर्षक है कि बंगाल, बिहार और युक्त प्रांत, तीनों उनको अपनी-अपनी भाषा का महाकवि मानकर अपने को गौरवित समझते हैं।

इन लोगों के बाद हिन्दी-संसार के सामने सन्त कबीर आते हैं। हाथों में ज्ञान का दीपक था, जो खूब दमक रहा था। आपकी हिन्दी-रचनाएँ बहुमूल्य हैं, और उसी दीपक-ज्योति से ज्योतिर्मयी हैं। आपने संतमत और संतवानी की नींव डाली। आपकी दृष्टि बड़ी प्रखर थी। आपकी समस्त रचनाओं में उसकी प्रखरता विद्यमान है। आपकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य का गौरव हैं, उनमें वह आदर्श मौजूद है—जिस आदर्श ने अनेक सन्तजनों के हृदय को प्रेम-रस से आप्लावित कर दिया। महात्मा कबीर ने अपनी रचनाओं से हिन्दी भाषा को तो मालामाल बना ही दिया है, परन्तु उनके आदर्श ने एक विशद साहित्य उत्पन्न कर दिया है। हिन्दी-साहित्य के विकास में इन रचनाओं से बड़ी सहायता मिली है। कबीर साहब की रचनाओं का भाण्डार बहुत बड़ा है। उसमें सब प्रकार की कविताएँ पायी जाती हैं, जो विभिन्न समयों में रची गयी बतलायी जाती हैं। उनकी रचना-प्रणाली में भी अन्तर है। मेरा विचार है कि कबीर साहब की रचना का मुख्य स्वरूप उनके बीजक में पाया जाता है। दोनों प्रकार की रचनाएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं:—

कहहु हो अम्बर कासों लागा, चेतन हारा चेत सुभागा।
अम्बर मध्ये दीसै तारा, एक चेता एक चेतवनहारा।
जो खोजो से उहवाँ नाहीं, सो तो आहि अमर पद माहीं।
कह कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाकै एक होई।

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ-पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ' झाँखड़ आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है।

महात्मा गोरखनाथ कबीर साहब के प्रथम हुए हैं और सन्त-वाणी और हिन्दी गद्य के आदि आचार्य वे ही हैं। उनकी बानी का नमूना देखिये—

अवधू रहिया हाटें बाटे रुख बिरिख की छाया।
तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया॥

परन्तु इस प्रणाली को समुन्नत करनेवाले कबीर साहब हैं। उनकी रचनाएँ अधिक हैं और भावमयी हैं। अतएव उनका समादर भी अधिक हुआ है। हिन्दी-साहित्य को समुन्नत करने में वे बहुत सहायक हुई हैं। कबीर साहब की साखियाँ बड़ी मनोहर हैं। वे भजनों से अधिक जनता में प्रचलित हैं। उनका रंग देखिये—

आछे दिन पाछे गये गुरु सों किया न हेत।
अब पछताया क्या करै चिड़िया चुग गईं खेत॥
पाँचो नौबत बाजती होत छतीसो राग।
सो मन्दिर खाली पड़ा बैठन लागे काग॥

कबीर साहब के उपरान्त हिन्दी की समुन्नति और वृद्धि का वह समय आया जो फिर कभी नहीं आया। उनके बाद सौ बरस के भीतर हिन्दी-देवी का जो शृंगार हुआ, जो लोकोत्तर प्रसूनचय उनपर चढ़े, उनका वर्णन नहीं हो सकता। इस समय में हिन्दी-गगन को समुद्भासित करनेवाले, हिन्दू-संसार को अलौकिक आलोक से आलोकित करनेवाले

प्रभाकर-समान प्रभावशाली सूरदास और सुधाकर समान सुधास्रावी गोस्वामी तुलसीदास उत्पन्न हुए। मधुमयी लेखनी के आधार मलिक मुहम्मद जायसी और मम्मट-समान आचार्य पद के अधिकारी विबुधवर केशवदास इसी काल के जगमगाते रत्न हैं। इस समय यदि सम्राट् अकबर हिन्दी-साम्राज्य-संवर्द्धन का केतु उत्तोलन कर रहे थे, तो मंत्रिप्रवर रहीम खां खानखाना उसको अमूल्य रत्नों का हार-उपहार देकर और सचिव-शिरोमणि महाराज बीरबल पारिजात पुष्प से उसकी पूजा करके फूले नहीं समाते थे। इस समय वह भारत के अधिकांश भाग में सम्मानित थी। महाराजाधिराज के समुच्च प्रासाद से लेकर एक साधारण विद्याव्यसनी की कुटीर तक में उसका सरस प्रवाह प्रवाहित था। वह वैष्णव-मण्डली का जीवन-सर्वस्व, विबुध समाज का आधार-स्तम्भ, सहृदय-जन की हृदय-वल्लभा और रसिक जनों की रसायन-सरसी थी। इस समय अनेक सरस हृदय कवि उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी रसमयी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को अजर-अमर कर दिया है। इस समय ब्रजभाषा का अखंड राज्य था; किन्तु इसी समय अवधी भाषा में 'पद्मावत' जैसा बड़ा ही अनूठा काव्य लिखा गया।

इस काल के समस्त बड़े-बड़े कवियों की भाषा और रचनाओं के उदाहरण मैं सेवा में उपस्थित नहीं कर सकता। किन्तु जो हिन्दीदेवी के अंक के निराले लाल हैं, जिन्होंने उसको निहाल ही नहीं किया, उसे चार चाँद भी लगा दिये, उनकी कुछ कविताएँ दिये बिना आगे बढ़ने को जी भी नहीं चाहता। साहित्य-संसार के सूर-सूर का एक नमूना देखिये—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चल चल जात निकट श्रवनन के उलट पलट ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

कुछ मर्म-भरी उक्तियाँ मलिक मुहम्मद जायसी की भी पढ़िये। यह शख्स अजब दर्द-भरा दिल साथ लाया था।

मिलहिं जो बिछुरे साजना करि-करि भेंट कहंत।
तपन मृगसिरा जे सहहिं ते अद्रा पलुहंत॥
पिय सों कहेहु संदेसरा ए भौंरा ए काग।
सो धन विरहिन जरि गई तेहिक धुआँ मोहिं लाग॥
राती पिय के नेह की स्वर्ग भयो रतनार।
जोरे उवा अथवा रहा न कोइ संसार॥

गोस्वामीजी की रत्न-राजि में से कौन रत्न उपस्थित करूँ। वे सभी उज्ज्वल हैं, रामचरितमानस-सरोज-मकरंद का मधुप कौन नहीं है? उसका रंग निराला, ढंग निराला, बात निराली, सब निराला ही निराला तो है। हाँ, उनका रंग बड़ा चोखा है। अच्छा इसी की रंगत देखिये:—

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
स्वाति सलिल रघुनाथ यश चातक तुलसीदास॥
तुलसी संत सुअम्ब तरु फूलि फलहिं पर हेत।
इत ते ए पाहन हनैं उत ते वे फल देत॥
गो धन गज धन बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवत संतोष मन सब धन धूरि समान॥
असन बसन सुत नारि सुख पापिहुँ के घर होय।
संत समागम रामधन तुलसी दुरलभ दोय॥

महाकवि केशव का महत्व अकथनीय है। आपके कुल के सेवक भी भाषा नहीं बोलते थे। अपको भाषा में कविता करना अरुचिकर था; किन्तु जब इधर रुचि हुई, तो कमाल कर दिया। एक पद्य उनका भी देख लीजिये, आपकी मानमर्य्यादा बनी रहे:—

भूखन सकल घनसार ही के घनश्याम
कुसुम कलित केसर ही छबि छाई सी।
मोतिन की लरी सिर कंठ कंठमाल हार
और रूप ज्योति जात हेरत हेराई सी।
चन्दन चढ़ाये चारु सुन्दर सरीर सब
राखी जनु सुभ्र सोभा बसन बनाई सी।
सारदा-सी देखियत देखो जाइ केसोराइ
ठाढ़ी वह कुँवरि जोन्हाई में अन्हाई सी॥

हिन्दी संसार में दो बहुत बड़े सारग्राही हुए हैं। इनकी सारग्राहिता बड़ी ही हृदयग्राही है। ये हैं थोड़ी पूँजीवाले; किन्तु कई बड़े-बड़े पूँजीपति इनके सामने कुछ नहीं हैं। इनके पास हैं थोड़े; किन्तु जितने जवाहिर हैं, हैं बड़े ही अनूठे। जहाँ कितने तेल चुलानेवाले ठीक-ठीक तेल भी नहीं चुला सके, वहाँ इन्होंने इत्र निचोड़ा है। इनमें एक दरियाय लताफत के दुरें बेबहा अब्दुल रहीम खाँ खानखाना हैं और दूसरे साहित्य-गगन के पीयूषवर्षी पयोद बिहारीलाल। इन दोनों सहृदयों में सौ साल से अधिक का अन्तर है। इन लोगों की भी कुछ रचनाएँ पढ़िये—पहले रहीम की सेह बयानी देखिये—

यों रहीम सुख होत है बढ़्यो देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियान लखि अँखियन को सुख होत॥
छार मुंड मेलत रहत कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज रिखि पत्नी तरी सो ढूँढ़त गजराज॥
कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

बिहारीलाल की ललामता अवलोकन कीजिये—

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकाश करै तितौ भरिए जितो सनेह॥
जो चाहत चटक न घटै मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त॥
दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति॥

हिन्दी के इस स्वर्ण-युग में और भी अनेक साहित्य-कानन-केशरी उत्पन्न हुए हैं। वे सब अपने ढंग के निराले हैं। इस स्वर्णयुग के उपरान्त भी बड़े ही कवि-कर्म्म-कुशल काव्य-कर्त्ताओं के दर्शन होते है। उन लोगों ने भी मोती पिरोये हैं, बड़े अनूठे बेल-बूटे तराशे हैं, भगवती भारती के कण्ठ में बहुमूल्य रत्न हार डाले हैं, हिन्दीदेवी को भाव के समुच्च आसन पर आसीन किया है, उसे सम्मुन्नत बनाया है और उन न्यूनताओं की पूर्ति की है, जो उनकी कीर्ति के आवश्यक साधन हैं। परन्तु, स्वर्णयुग का आदर्श ही उनका आदर्शभूत है। अतएव उनके विषय में कुछ विशेष लिखकर मैं इस लेख की कलेवर-वृद्धि नहीं करना चाहता। हाँ, इन लोगों में एक देवदत्त बलबलीयान देवदत्त नामक कविकुल-कमल पर दृष्टि विना पड़े नहीं रहती। यह देव वास्तव में स्वर्गीय सम्पत्ति-सम्पन्न हैं। उनकी दीप्ति के सम्मुख कविता-देवी भी चमत्कृत होती हैं; अतएव उनका चमत्कार भी देखिये—

जब ते कुँवर कान्ह रावरी कला निधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही ते 'देव' देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानी सी॥

छोही सी छली सी छीन लीनी सी छकी सी छिन,
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।
बाँधी सी बँधी सी बिख बूड़ति बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी॥

हिन्दी-विकास का यह प्रसंग अधूरा रह जायगा, यदि गुरुदेवों की गौरवमयी रचनाओं की गुरुता का गान इसमें न हो। महात्मा गुरु नानक से लेकर कँलगीधर गुरु गोविन्द सिंह तक दसों गुरुओं ने हिन्दू जाति को गौरवित बनाने का ही भगीरथ प्रयत्न नहीं किया है, उन स्वर्गीय महापुरुषों ने हिन्दीदेवी की भी वह सेवा की है कि जिसके विषय में यह निर्भय होकर कहा जा सकता है 'न भूतो न भविष्यति।' यदि वन्दनीय वल्लभ-सम्प्रदाय अथवा पूजनीय वैष्णव दल ने उसको समुन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया है, यदि समादरणीय सन्तमतवालों ने उसकी प्रथित प्रतिष्ठा-पताका बहुत ऊँची कर दी है, तो सकल गौरव-भाजन गुरुदेवों ने उसकी कान्ति-कीर्ति-कौमुदी द्वारा समस्त दिशाओं को धवलित कर दिया है। वास्तव बात यह है कि एक हिन्दीदेवी ही ऐसी हैं जो अविरोध से सभी सम्प्रदाय और मतवालों की आराध्या हैं। पवित्र आदि ग्रन्थ साहब और दशम गुरु प्रणीत दशम ग्रंथ साहब हिन्दी भाषा की पुनीत, महान् और भावमयी रचनाओं के अपार पारावार हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, हिन्दी में आज तक किसी ग्रन्थकार ने इतना बड़ा ग्रंथ नहीं रचा। इन दोनों पुनीत ग्रन्थों में क्या नहीं है? वे विज्ञान के भाण्डार, विवेक वारिधि, विचार के हिमाचल, भाव के सुमेरु और भक्ति के आकार हैं। गुरु नानक-देव के शब्द पंजाबी भाषामिश्रित हैं; किन्तु गुरु अर्जुनदेव की रचना अधिकांश शुद्ध हिन्दी है। दशम ग्रन्थ साहब की अधिकांश कविताएँ ब्रजभाषा में हैं और उसमें उसका उच्च और परिमार्जित स्वरूप वर्तमान है। आदि ग्रंथ साहब में से दो दोहे और दशम ग्रंथ साहब में से एक पद्य नीचे लिखा जाता है—

बलिहारी गुरु आपणेदेव हाड़ीं सद वार।
जिन माणस ते देवते करत न लागी वार॥
जे सौ चंदा ऊगवे सूरज चढ़ै हजार।
एते चानण हो दियाँ गुर विण घोर अँधार॥

सेत धरे सारी वृखभानु की कुमारो
जस ही की मनोवारो ऐसी रची है न को दई।
रंभा उरवसी और सची सी मदोदरी पै
ऐसी प्रभा का की जग बीच ना कछू भई॥
मोतिन के हार गरे डार रुचि सो सिंगार
कान्ह जू पै चली कवि श्याम रस के लई।
सेज साज साज चली साँवरे के प्रीति काज
चाँदनी में राधा मानों चाँदनी सी हो गई॥

———

ब्रजभाषा और खड़ी बोली

हिन्दी भाषा के विकास की वार्त्ता के साथ खड़ी बोली के विकास का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। यद्यपि खड़ी बोली की कविता कविवर खुसरो के समय से ही होने लगी थी तथापि कबीर साहब ने भी कभी-कभी खड़ी बोली की कविता लिखी है। कभी-कभी और सहृदय सुजन भी एक-आध पद्य खड़ी बोली का लिख जाते थे, जैसा कि निम्नलिखित पद्यों से प्रगट होता है—

जंगल में हम रहते हैं—दिल बस्ती से घबराता है।
मानुस गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
ललित किशोरी इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

—ललित किशोरी

हम खूब तरह से जान गये जैसा आनँद का कन्द किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही मन में बन्द किया।
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर विधि ने यह फरफन्द किया।
चम्पक दल सोन जुही नरगिस चामीकर चपला चन्द किया॥

—सीतल

किन्तु खड़ी बोली की ये रचनाएँ आकस्मिक हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों शौरसेनी अपभ्रंश के रूप हैं। ब्रजभाषा का केन्द्र मथुरामण्डल है और खड़ी बोली का दिल्ली प्रान्त अथवा उसका समीपवर्ती भू-भाग। किस प्रकार ब्रजभाषा उन्नति करते-करते पराकाष्ठा को पहुंची, यह आप लोगों ने देख लिया। जो सौभाग्य स्वयं शौरसेनी अथवा अपभ्रंश को नहीं प्राप्त हुआ, जो महत्त्व उसकी दूसरी बहनों—अवधी अथवा भोजपुरी बोलियों को नहीं मिला, वह अथवा उससे भी कहीं अधिक सौभाग्य और महत्त्व ब्रजभाषा ने हस्तगत किया। मैथिल-कोकिल की रचना में आप ब्रजभाषा की झलक देख चुके हैं। यदि आप आगे बढ़कर बंगाल में पदार्पण करेंगे तो वहाँ के प्राचीन कवि कीर्तिवास और चंडीदास इत्यादि की मधुर रचनाओं को भी वह माधुर्य्य वितरण करती दिखलायी पड़ेगी। पश्चिम-दक्षिण में राजपूताने और गुजरात में भी आप उसका प्रसार देखेंगे। वहाँ वह तात्कालिक पूर्वतन कवि की कविता-मालाओं को अपनी कोमलकान्त पदावलि-कुसुमावली द्वारा सुसज्जित करती दृष्टिगोचर होती है। भगवान् बुद्धदेव के साधन-बल से जिस प्रकार मागधी का हित-साधन हुआ था, उसी प्रकार भगवान् वासुदेव के सहवास से सुवासित होकर ब्रजभाषा भी समादृत हुई। जहाँ-जहाँ उनके प्रेममय पंथ का प्रचार हुआ, जहाँ-जहाँ उनकी लोकविमुग्धकारिणी मुरली की चर्चा छिड़ी, जहाँ-जहाँ उनकी आराध्या श्रीमती राधिका देवी उनके साथ आराधित हुईं, वहाँ-वहाँ कलित ललित-कलामयी ब्रजभाषा अवश्य पहुँची। न तो पंजाब इस प्रवाह में पड़ने से बचा, न बिहार, न मध्यप्रान्त। हमारे देश की चर्चा ही क्या, वह तो चिरकाल से भगवती ब्रजभाषा का भक्त है—और आज भी उनके पुनीत चरणों पर भक्ति-पुष्पांजलि अर्पण कर रहा है। ब्रजभाषा-साहित्य का पद्य विभाग जितना विशद, उन्नत और उदात्त है, जितना ललित और सरस है, उतना ही प्रिय और व्यापक है। जो गौरव इस विषय में उसको मिला, भारत की

किसी अन्य भाषा को आज तक प्राप्त नहीं हुआ। इक प्रान्त के अधिकांश सुकवि आज भी उसके अनन्य उपासक हैं, बहुत लोग आज भी उसकी चकितकरी ललित कला के समर्थक हैं; किन्तु यह अवश्य है कि काल-गति से उसके अबाध प्रवाह में अब कुछ बाधा उपस्थित हो गयी है। इसके कारण हैं।

उन्नीसवें शतक के आरम्भ में हिन्दी गद्य की नींव श्रीयुत लल्लूलाल और श्रीमान् सदल मिश्र द्वारा कुछ विशेष कारणों से पड़ी। यद्यपि इनके पहले के भी गद्य-ग्रन्थ हिन्दी में पाये गये हैं। इनमें महात्मा गोरखनाथ, गोस्वामी बिट्ठलनाथ और गोस्वामी गोकुलनाथ के ग्रन्थ प्रधान हैं। किन्तु, गद्य-विभाग का वास्तविक कार्य जो कि क्रमशः अग्रसर होता गया, उक्त दोनों सज्जनों के समय से ही प्रारम्भ होता है। हिन्दी-गद्य का जो सुन्दर बीज उन लोगों ने बोया वह श्रीयुत राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह के सेचन-द्वारा कुछ काल के उपरान्त एक हरा-भरा पौधा बन गया। भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र के कर-कमलों से लालित-पालित होकर यह पौधा एक प्रकाण्ड वृक्ष में परिणत हुआ और सुन्दर फूल-फल लाया। इस काल में और इसके परवर्ती काल में हिन्दी-गद्य के अनेक सुलेख उत्पन्न हुए। उन्होंने सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें लिखीं, तरह-तरह के समाचारपत्र और मनोहर मासिक पत्रिकाएँ निकालीं, और इस प्रकार उसको बहुत कुछ अलंकृत एवं श्री-सम्पन्न कर दिया। जो हिन्दी-गद्य किसी काल में कतिपय पंक्तियों में ही स्थान पाता था, जो थोड़े-से दानपत्रों, दस्तावेजों, तमस्सुकों, इकरारनामों और महज्जर-नामों के आधार से ही जीवित था, जो या तो कुछ चिट्ठी-पत्री में दिखलायी पड़ता अथवा किसी टीकाकार की लेखनी से प्रसूत हो टूटी-फूटी दशा में किसी प्राचीन पुस्तक के मैले-कुचैले पत्रों में पड़ा रहता, वह इस काल में नये वसन-भूषणों से सुसज्जित होकर सर्व-जन-आदृत हुआ। पहले-पहल जो तेरहवें शतक में मेवाड़ की एक सनद में दिखलायी पड़ा और अट्ठारहवें शतक में छोटे-छोटे लेखों अथवा साधारण पुस्तकों के

सहारे कभी-कभी अग्रसर होता रहा, उन्नीसवें शतक में पचास वर्ष के भीतर वही विस्तृत होकर भारत-व्यापी हुआ। जो महात्मा गोरखनाथ की विभूति से भी विभूतिमय नहीं हुआ, गोस्वामी बिट्ठलनाथ की स्वामिता में भी साहित्य-स्वामी नहीं बना, भक्त नाभादास जिसे आभा नहीं दे सके, जिसे बनारसीदास सरस, जटमल सजीव, देव दिव्य, सूरतमिश्र स्वरूपमान, दास प्रसादयुक्त, ललित किशोरी ललित और ललितमाधुरी मधुर नहीं बना सके, वही हिंदी गद्य इस काल में समुन्नत होकर सर्वगुण-सम्पन्न हो गया। भारतेन्दु और तात्कालिक हिन्दी-साहित्य गगनशोभी कतिपय ज्योति-निकेतन विद्वद्वृन्द तारकपुंज ने उस समय उसको जो अपूर्व आलोक प्रदान किया, उससे वह आज तक आलोकित है और दिन-दिन समधिक आलोकमय हो रहा है।

समय-प्रवाह से जब हिन्दी-गद्य समुन्नत हुआ और योग्य विद्वत्समाज द्वारा उसको समुचित आश्रय मिला तो जनता में उसका अनुराग उत्पन्न होना स्वाभाविक था। जैसे-जैसे हिन्दी में सुन्दर-सुन्दर भावमय ग्रंथ निकलने लगे वैसे-वैसे उसका समादर बढ़ता गया। यंत्रालयों और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं की वृद्धि ने इस प्रवृत्ति की और वृद्धि की। इस समय युक्तप्रान्त, बिहार और मध्यप्रदेश में तो वह प्रचलित था ही, पंजाब प्रांत में और बंगाल के प्रधान स्थान कलकत्ते और बम्बई-हाते की राजधानी बम्बईमें भी उसका प्रचुर प्रसार होगया था। इस बहु-विस्तृत हिन्दी-गद्य की भाषा खड़ी बोली थी। श्रीयुत गोस्वामी बिट्ठलनाथ के 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' की रचना ब्रजभाषा में हुई है। पहले की जितनी टीकाएँ और फुटकल नोट कहीं पाये जाते हैं, उन सब की भाषा लगभग ब्रजभाषा ही थी। श्रीयुत लल्लूलाल की भाषा में ही ब्रजभाषा का पुट मौजूद है। किंतु राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद और बाबू हरिश्चंद्र ने अपने गद्य में शुद्ध खड़ी बोली को स्थान दिया है। परवर्ती समस्त-हिन्दी गद्य-लेखक भी इसी पथ के पथिक हैं। कारण इसका यह है कि जिस काल का यह वृत्तांत

है, उस समय उर्दू भाषा उत्तरोत्तर समुन्नत होती हुई सरकारी कचहरियों में भी प्रतिष्ठालाभ कर चुकी थी; अतएव उसका प्रचार प्रान्त भर में हो गया था और उसके आश्रय से खड़ी बोली प्रान्त-व्यापिनी भाषा बन गयी थी। ऐसी अवस्था में हिन्दी की समुन्नति के लिए उसका भी खड़ी बोली में लिखा जाना आवश्यक हो गया। यही कारण है कि ब्रजमण्डल-निवासी होकर भी राजा लक्ष्मण सिंह की लेखनी खड़ी बोली के अनुकूल चली और ब्रजभाषा के अनन्य भक्त होकर भी भारतेन्दु खड़ी बोली को भारत-व्यापनी बनाने में संकुचित नहीं हुए। राजा शिवप्रसाद के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है; क्योंकि, उनका आदर्श था—"चलो तुम उधर को हवा हो जिधर की।" इतना होने पर भी हिन्दी गद्य-लेखकों ने पद्य की भाषा उस समय ब्रजभाषा ही रखी। भारतेन्दु जी और लक्ष्मण सिंह के ग्रंथों की पद्य-भाषा ब्रजभाषा है। किन्तु, कुछ समय बीतने पर सुगमता और सुविधा का सामना करना पड़ा। इस समय पढ़ी-लिखी जनता खड़ी बोली से परिचित हो गयी थी, अधिकांश लेखक भी जितना खड़ी बोली पर अधिकार रखते थे, उतना ब्रजभाषा पर नहीं। अतएव धीरे-धीरे वह अव्यवहृत हो चली और उसका समझना सुगम नहीं रहा। सामने उर्दू आदर्श था, जिसके गद्य-पद्य दोनों की भाषा एक थी; अतएव खड़ी बोली में ही हिंदी भाषा की कविता करने का प्रश्न छिड़ा। सुविधा और सुगमता की दोहाई दी गयी, धूम-धाम से आंदोलन हुआ, सफलता खड़ी बोली को मिली और इस प्रकार खड़ी बोली की कविता का सूत्रपात हुआ।

जनता अथवा मानव-हृदय सुविधा और सुगमता का अनुचर है। सामायिक प्रभाव उसका सूत्रधार है। समयानुसार जो सुगम और सुविधा-जनक पथ होता है लोक बहुत विरोध करने पर भी अन्त में उसी पथ पर अविरोध के साथ चलने लगता है—सदैव ऐसा होता आया है, आगे भी ऐसा ही होगा। हमारी परम पवित्र वेद-भाषा, सुसंस्कृता संस्कृत,

महिमामयी मागधी जैसे नियति का नियम पालन करने को बाध्य हुई, उसी प्रकार मधुरतामूर्ति ब्रजभाषा को भी नियति-चक्र में पड़ना पड़ा। किन्तु वे भाषाएँ जैसे हमारी दृष्टि में आज तक भी समादृत हैं, वैसे ही जब तक हिंदी भाषा का नाम भी संसार में शेष रहेगा, ब्रजभाषा समादृत रहेगी। आज भी उसकी अर्चा करके अपने करों को चन्दन-चर्चित करनेवाले लोग हैं और चिर काल तक रहेंगे। मैं उन लोगों को मर्मज्ञ और सहृदय नहीं समझता, जो उसके विरुद्ध असंगत बातें कथन करके अपने को कलंकित करते हैं।

खड़ी बोली की कविता का अभी आरम्भिक काल है। जो लोग उसकी सेवा आजकल कर रहे हैं, वास्तव में वे सेवक हैं। यदि उनको कोई कवि समझता है तो यह उसका महत्त्व है। भक्तजन की भावुकता भावमयी होती है, अपने भावावेश में उसे किसी बात का अभाव नहीं होता, इसी सूत्र से कोई कुकवि भी किसी की दृष्टि में महाकवि बन सकता है। परन्तु, वास्तव बात यह है कि खड़ी बोली के सेवकों की तुलना ब्रजभाषा के सुकवियों से करना विडम्बना छोड़ और कुछ नहीं है। कवि-चक्र-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास से महाकवि जिस पथ में चलकर कहते हैं—"कबित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे" उस पथ का पथिक होकर कोई खड़ी बोली का सुकवि भी अपने को कवि नहीं कह सकता। कोई सेवक ऐसा दुस्साहस कैसे करेगा! सब भाषाओं में सूर-शशि एक-एक ही होता है। हाँ, तारकचय की कमी नहीं होती। खड़ी बोली की कविता में आस-पास अन्धकार घनीभूत है, कतिपय तारे उसमें चमक-दमक रहे हैं। धीरे-धीरे अन्धकार टल रहा है। किन्तु भरमार अभी खद्योतों की ही है। उनको भी चमकने दीजिये। क्या कुछ अन्धेरा उनसे भी दूर नहीं हो रहा है? आप उनको मुट्ठियों में क्यों रखना चाहते हैं? यह अन्धेर है। समय पर सब होगा—घनीभूत अन्धकार एक दिन टलेगा, भगवान् भुवन-भास्कर भी निकलेंगे।

सेवकों को उचित पथ पर चलाने का अधिकार सब अधिकार वालों को है, किन्तु कशाघात करके उनको क्षत-विक्षत कर देना न्याय-संगत न होगा। आजकल देखता हूँ कि खड़ी बोली की कविता के सेवकों पर प्रहार-पर-प्रहार हो रहे हैं, उनको नाना लांछनों द्वारा लांछित किया जा रहा है। अपराध उनका यह है कि वे नीरस को सरस, तमोमयी अमा को राका-रजनी और काक-कुमार को कल-कंठ बनाना चाहते हैं। कहा जाता है कि उनकी खड़ी बोली की रचना क्लिष्ट होती है, उसमें ब्रजभाषा के शब्द मिलाकर खिचड़ी पकायी जाती है, और शुद्ध शब्दों का प्रयोग करके उसे कर्कश किया जाता है। उनकी कविता में सरसता नहीं, लालित्य नहीं, भाव नहीं, ध्वनि नहीं, व्यंजना नहीं, कोमलता नहीं, प्रयोजन यह कि उसमें सब नहीं ही नहीं है—उत्तमता कुछ नहीं। मेरा सविनय निवेदन यह है कि क्या यह सत्य है? मैं क्लिष्टता का प्रतिपादक नहीं, मैं कोमल कान्त-पदावली का अनुरक्त हूँ, प्रियप्रवास-रचना का और उद्देश्य है, मेरे इस कथन में सत्यता है या नहीं—यह 'बोलचाल' नामक ग्रंथ बतलावेगा, जो प्रियप्रवास का दूना है। किन्तु, प्रसाद-गुणमयी कविता का अनुमोदक होकर भी मैं यह कहने के लिये बाध्य हूँ कि कवि की स्वतन्त्रता हरण नहीं की जा सकती। उसको सब प्रकार की रचना करने अधिकार है। यदि कोई क्लिष्ट कविता करना ही पसन्द करता है, तो वह अवश्य सतर्क करने योग्य है। परन्तु यदि उसकी कविता सब प्रकार की है और उसमें से क्लिष्ट रचना ही दोष दिखलाने के लिए उपस्थित की जाती है तो यह अनुचित दोष-दर्शन है। प्रायः देखा जाता है कि किसी खड़ी बोली के कविता-लेखक की कोई अत्यन्त क्लिष्ट कविता उठाकर रख दी जाती है—और तरह-तरह के व्यंग करके यह प्रश्न किया जाता है कि क्या यह खड़ी बोली की कविता है? प्रयोजन यह कि खड़ी-बोली की कविता-रचना ढोंगमात्र है, उसमें अरसता छोड़ और कुछ नहीं। मेरा निवेदन यह है कि प्राचीन लब्ध-प्रतिष्ठ महाकवियों ने भी इस प्रकार की कविताएँ

की हैं और ये कविताएँ उसी भाषा की मानी गयी हैं, जिस भाषा में वे लिखी गई हैं। मैं हिन्दी-संसार के कवि-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास, वंग भाषा के महाकवि भारतचन्द्र और उर्दू भाषा के मलिकुश्शोअरा मिर्जा ग़ालिब की एक-एक कविता प्रमाणस्वरूप नीचे लिखता हूँ, आप लोग उसे देखें—

गोपाल-गोकुल-वल्लभी प्रिय गोप-गोसुत-वल्लभं।
चरणारविन्दमहं भजे भजनीय सुर-नर-दुर्लभं॥
सिर केकि पच्छ विलोल कुण्डल अरुन बनरुह लोचनं।
गुञ्जावतंस विचित्र सब अँग धातु भव भय मोचनं॥
कच कुटिल सुन्दर तिलक भ्रू राका मयंक समाननं।
अपहरत तुलसीदास त्रास विहार वृन्दा काननं॥

—तुलसीदास

जय चामुण्डे जय चामुण्डे कर कलितासि वराभय मुण्डे।
कल-कल रसने,कड़ मड़ दशने,रण भुवि खण्डित सुर रिपुमुण्डे॥
अट अट हासे कट मट भाषे नखर बिदारित रिपु करि शुण्डे।
कलिमल मथनम् हरिगुण कथनम् विरचय भारत कविवर तुण्डे॥

—भारतचन्द्र

शुमारे सबहा मरगूबे बुते मुश्किल पसंद आया।
तमाशा ये बयक कफ़ बुरदने सद दिल पसंद आया॥
हवाये सबज़ गुल आईनये बेमेहरिये क़ातिल।
कि अन्दाज़े बखूँ ग़लतीदने क़ातिल पसंद आया॥

-मिर्जा ग़ालिब

गोस्वामीजी के इस प्रकार के पद्य सैकड़ों हैं, विनयपत्रिका का लगभग एक तृतीयांश ऐसे ही पद्यों से पूर्ण है। आचार्य केशव की रचना में इस

प्रकार के अनेक पद्य हैं। क्या कविवर सूरदास, क्या वैष्णव-संसार के दूसरे प्रसिद्ध कवि सभी की रचनाओं में इस प्रकार की कविता पायी जाती है? भारतेन्दुजी के बहुत पद्य ऐसे हैं। उनकी गंगा-स्तुति का एक पद्य सोलह चरणों का है। वह आरम्भ यों होता है—**"ब्रह्म द्रवभूत आनन्द मन्दाकिनी अलकनन्दे सुकृति कृति विपाके।"** यदि इस प्रकार की कविता होती है और आद्योपान्त संस्कृत शब्दमयी होने पर भी ब्रजभाषा की कविता समझी जाती है तो खड़ी बोली में रचे गये इस प्रकार के कतिपय पद्य खड़ी बोली के पद्य क्यों न माने जावेंगे? यदि ऐसे पद्यों को लेकर वितण्डावाद किया जाय, तो अधिकांश वर्तमान हिन्दी-गद्य भी खड़ी का नहीं माना जायेगा।

दूसरी बात यह कि खड़ी बोली की कविता में ब्रजभाषा के शब्द मिलाकर खिचड़ी पकायी जाती है। खिचड़ी बड़ी मीठी होती है। क्या बुरा किया जाता है? कौन ब्रजभाषा का कवि है जिसकी कविता बुन्देलखण्डी शब्दों से बची है? कविवर बिहारीलाल की मधुमयी कविता उससे मामूर है। क्या इन लोगों की कविता ब्रजभाषा की कविता नहीं मानी जाती? गोस्वामी जी की अद्भुत रामायण में अनेक प्रान्तों के शब्द हैं—अवधी की वह आकर है, ब्रजभाषा-भूषिता है, बुन्देलखण्डी से अलंकृत है, भोजपुरी से भावमयी है। क्या यह दूषण है? यह तो भूषण ही माना गया है। भाषा-मर्मज्ञ भिखारीदास कहते हैं:—

तुलसी-गंग दोऊ भये सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

देखिये, सहृदया 'ताज' की यह कई भाषामयी कविता कितनी मधुर है:—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।

देव पूजा ठानी, मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान, साड़े गुनन गहूँगी मैं।
साँवला सलोना सिर ताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निगाद हो दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै,
तांड़ नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगो मैं।

मेरी इन बातों से आप लोग यह न समझें कि मैं खड़ी बोली की कविता में ब्रजभाषा शब्दों के अबाध व्यवहार का पक्ष-पाती हूँ। नहीं, यह मेरा विचार कदापि नहीं है। ऐसी अवस्था में खड़ी बोली की कविता की उपयोगिता ही क्या रह जायगी? वह तो पहचानी भी न जा सकेगी। मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि ब्रजभाषा के उपयुक्त और सुन्दर शब्द यदि कहीं प्रयुक्त होकर कविता को कवित्वमय कर देते हैं तो उसका ग्रहण कर लेना भावुकता है। कवि सौंदर्य का उपासक, भाव का भूखा, रस का रसिक, प्रसाद का प्रेमिक और सरलता का सेवक है। अतएव इनके साधनों को साध्य बनाना ही उसका धर्म है—अन्यथा, कवि-कर्म्म कवि-कर्म्म नहीं रह जायेगा।

मुख्यतः क्रिया ही खड़ी बोली को ब्रजभाषा से पृथक् करती है। अतएव ब्रजभाषा क्रिया का प्रयोग खड़ी बोली में कदापि न होना चाहिये। किसी उपयुक्त अवसर पर, संकीर्ण स्थल पर अनुप्रास के लिए यदि ब्रजभाषा-क्रिया का प्रयोग संगत जान पड़े तो मेरा विचार है कि वहाँ उसका प्रयोग हो सकता है। किन्तु उसी अवस्था में जब उसे खड़ी बोली की क्रिया का रूप दे दिया जाय। उस शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास को जो कि ब्रजभाषा-प्रणाली से प्रस्तुत है, खड़ी बोली में ग्रहण करना उचित नहीं; क्योंकि इससे खड़ी बोली ब्रजभाषा का प्रतिरूप बन जायेगी। हिन्दी भाषा की दो मूर्तियाँ हैं—एक खड़ी बोली और दूसरी 'ब्रजभाषा'।

अतएव उनके परस्पर सम्बन्ध की रक्षा न्यायानुमोदित है। अन्य भाषा के शब्दों से खड़ी बोली पर व्रजभाषा का विशेष स्वत्व है, इसलिये उसका बिलकुल बायकाट विडम्बना है। उर्दू के कवि अब तक व्रजभाषा शब्दों का आदर करते हैं, फिर खड़ी बोली के कवि उसका अनादर क्यों करें? हाँ उनको समधिक संयत होना चाहिये। उर्दू के वे अशआर प्रमाण-स्वरूप नीचे लिखे जाते हैं—जिनमें व्रजभाषा शब्दों का प्रयोग हुआ है, ऐसे शब्द छोटे अक्षरों में दिये गये हैं—

सुबह गुजरी, शाम होने आई 'मीर'।
तू न चेता **औ बहुत दिन कम रहा।—मीर**

हाय! क्या चीज गरीबुल वतनी होती है।
बैठ जाता हूँ जहाँ छाँव घनी **होती है।—हाफ़िज**

कमसिनी है तो जिदें भी हैं निराली **उनकी।**
इस पै मचले हैं कि हम दर्द जिगर देखेंगे।—फसाहत

जग **में आकर इधर-उधर देखा।**
तूही आया नजर जिधर देखा।—मीर दर्द

सारे **जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।**
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलसिताँ हमारा—अकबाल

शुद्ध शब्दों के प्रयोग के विषय में मुझको इतना ही कहना है कि यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी है। इसने खड़ी बोली के कवियों को च्युत-दोष और शब्दों के तोड़-मरोड़ से बहुत बचाया है—जहाँ व्रजभाषा में इस दोष की भरमार है, वहाँ खड़ी बोलचाल की कविता इससे सुरक्षित है। अतएव इस अंश में आक्षेप मान्य नहीं; परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है, इसलिये इधर समुचित दृष्टि होना आवश्यक है। वह यह कि खड़ी

बोली के कुछ कवियों को शुद्ध शब्द-प्रयोग का नशा-सा हो गया है—और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे कविता में कर्कशता आ गयी है। यदि अक्ष के बजाय आँख, कर्ण के स्थान पर कान, दन्त के स्थान पर दाँत, जिह्वा के स्थान पर जीभ, ओष्ठ की जगह पर ओठ या होंठ लिखना ठीक है तो मुख के स्थान पर मुँह, आशा के स्थान पर आस, वेश के स्थान पर भेस, यश के स्थान पर जस, विष के स्थान पर विख लिखना भी ठीक है। दोनों प्रकार के शब्द ही अपभ्रंश शब्द हैं। इसी प्रकार के और बहुत से शब्द बतलाये जा सकते हैं। चाहिये यह कि अपभ्रंश शब्दों के व्यवहार के लिए परस्पर कलह न करें—प्रयोग करने न करने के लिये सब स्वतन्त्र हैं। किन्तु, यह आग्रह उचित नहीं कि हम प्रयोग करेंगे तो शुद्ध शब्द का ही प्रयोग करेंगे। इसका यह परिणाम होगा कि आँख, कान इत्यादि के स्थान पर अक्ष और कर्ण इत्यादि लिखे जाने लगेंगे, भाषा कृत्रिम हो जायेगी और हिन्दी का हिन्दीपन लोप हो जायेगा। यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दी भाषा की जननी अपभ्रंश भाषा है, हिन्दी की प्रशंसा इसीलिये है कि वह तद्भव शब्दों द्वारा सुगठित है—जिस दिन उसके आधार तत्सम शब्द हो जायेंगे उसी दिन वह अपना स्वरूप खोकर अन्तर्हित हो जायेगी। नियम यह होना चाहिये कि प्रयोग आवश्यकतानुसार तद्भव और तत्सम दोनों प्रकार के शब्दों का हो; किन्तु प्रधानता तद्भव शब्दों को दी जाये। संस्कृत के विद्वान् भी तद्भव शब्दों का प्रयोग करते देखे जाते हैं, शुद्ध शब्दों का प्रयोग तो वे करते ही हैं। हमलोगों को भी उन्हीं का पदानुसरण करना चाहिये। कुछ ऐसे प्रयोग दिखलाये जाते हैं—शुद्ध शब्द 'क्षुर' है; अपभ्रंश उसका 'खुर' है। इसी प्रकार प्रियाल शब्द शुद्ध और पियाल अपभ्रंश है। कविकुल-गुरु कालिदास रघुवंश के 'तस्याखुरन्यास पवित्र पांशुम्' और कुमारसम्भव के "मृगाः पियाल द्रुम मंजरीणाम्" वाक्यों में 'खुर' और 'पियाल' का प्रयोग करते पाये जाते हैं।

अब रही कवितागत लालित्य और सौंदर्य इत्यादि की बातें। इस विषय में मेरा इतना ही निवेदन है कि क्या श्रुतिधर श्रीमान् पंडित श्रीधर पाठक के भारत-गीत में भारतीयता का राग नहीं है? क्या शुभंकर श्रीमान् पंडित नाथूरामशंकर शर्मा की रचनाओं में रचना-चातुरी दृष्टिगत नहीं होती? क्या विद्वद्वर श्रीमान् पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के वाग्विलास में विद्वत्ता नहीं विलसती? क्या ललितकण्ठ श्रीमान् लाला भगवानदीन गुले लाला अथवा गुल्लाला नहीं खिलाते? क्या काव्य-विनोद श्रीमान् पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय की वर-वचनावली विवध विनोदमयी नहीं होती? क्या रामचरित-चिन्तामणिकार श्रीमान् पण्डित रामचरित उपाध्याय की कृति में चारु-चरित चित्रण नहीं होता? क्या निरूपण पटु श्रीमान् पण्डित रूपनारायण पाण्डेय की रूपक-पटुता अनु-रूप नहीं होती? क्या भारत-भारतीकार श्रीमान् बाबू मैथिलीशरण गुप्त की भारती विविध भाव-भरित नहीं पायी जाती? क्या शंकर नगरनिवासी श्रीमान् बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की कविता के प्रसादमयी होने में संदेह है? क्या स्नेह-भाजन श्रीमान् पण्डित गयाप्रसाद 'सनेही' की सुलेखनी सरसता के साथ नहीं सरसती? क्या पवित्रात्मा 'भारतीय आत्मा' की अनूठी उक्ति आत्म-विस्मृतिकारिणी नहीं होती? क्या परम सहृदय भारतीय-हृदय का कवित्व हृदय विभक्त नहीं करता? क्या रमणीय मानस श्रीमान् पण्डित रामनरेश त्रिपाठी की मानसिकता में नवरसमयी रसिकता नहीं मिलती? क्या हृदयवान् सुकवि श्रीमान् पण्डित गोकुलचन्द्र की चारुचित्तता अरोचकता को अर्द्धचन्द्र नहीं देती? इसका उत्तर सहृदय दें। मैं इतना ही कहूँगा कि इन सज्जनों की रचनाएँ रुचिर हैं। यदि यह समय उनके अनुकूल नहीं है तो कोई अनुकूल समय भी आयेगा। एक समय था, जब भावुक प्रवर भवभूति को यह कहना पड़ा था :—

ये नाम के चिदिहनः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्तु ते किमपितान्प्रति नैष यत्नः

उत्पत्स्यस्तेस्ति मम कोपि समान धर्मा,
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

किन्तु, बाद को वह समय भी आया जब वह इन शब्दों में स्मरण किये गये—

"कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते"

अथवा

भवभूतेः संबंधाद् भूरेव भारती भाति ।
एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदित ग्रावा ॥*

———

* परिशिष्ट

खड़ी बोली और उसका पद्य

खड़ी बोली का आन्दोलन-युग समाप्त हो गया है और अब वह बहुत कुछ समुन्नत हो गयी है। इस समय यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अब वही हिन्दी-पद्य की व्यापक और प्रधान भाषा है। इसका बहुत कुछ श्रेय श्रीमान् पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीयुत पं० नाथूराम शंकर शर्मा, श्रीयुत पं० रामचरित उपाध्याय, श्रीयुत बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्रीयुत पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', बाबू जयशंकर प्रसाद, श्रीयुत लाला भगवानदीन तथा पं० गोकुलचन्द्र शर्मा प्रभृति खड़ी बोली के प्रमुख उन्नायकों को है, जिनमें कई एक प्रसिद्ध और सफल ग्रंथकार भी हैं। इन लोगों की लेखनी के चमत्कार से खड़ी बोली का उद्यान सुसज्जित एवं श्रीसम्पन्न हुआ है और अर्धशताब्दी के भीतर उसने इतना महत्व लाभ किया है जो एक चकितकर व्यापार कहा जा सकता है। 'भारतीय हृदय' और 'भारतीय आत्मा' की रचनाएँ भी अपूर्व हैं। यद्यपि वे बहुत अधिक नहीं हैं, फिर भी जितनी हैं, खड़ी बोली के पद्य का गौरव हैं। वास्तविक बात तो यह है कि 'भारतीय हृदय' ने भारत का हृदय और 'भारतीय आत्मा' ने भारत की आत्मा दिखलाने की सच्ची चेष्टा की है। ऊपर जिन भावुक सज्जनों का नामोल्लेख हुआ

है, उनमें से प्रत्येक ने समय की गति को पहचाना, देश-काल के प्रत्येक विषय का मनन किया और उसपर अपनी ओजस्विनी और भावमयी लेखनी का संचालन इस प्रकार किया कि हिन्दी के पद्य-संसार में नवयुग का आविर्भाव हो गया। इन लोगों ने कविता-स्रोत की गति बदली, उसमें देशानुराग, जाति-प्रेम और जाति-गौरव के राग अलापे, उसके संकीर्ण पथ को बहुत कुछ प्रशस्त बनाया और उसके परिष्करण तथा नियमन में दृष्टि-आकर्षण योग्य कार्य कर दिखलाया। खड़ी बोली की वर्त्तमान शैली इन्हीं लोगों के सदुद्योग और सहृदयता का फल है और आज दिन वह इन्हीं नवयुग प्रवर्त्तकों के आदर्श से आदर्शवर्त्ती है।

खड़ी बोली किसे कहते हैं, उसका यह नामकरण कैसे हुआ, इसका इतिहास क्या है? इसका दिग्दर्शनमात्र मैं यहाँ करूँगा। हिन्दी में सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थों में श्रीमान् लल्लूलालजी ने किया है। इसके उपरान्त जिस शैली में वर्त्तमान हिन्दी भाषा का गद्य लिखा जाता है, उसको अपने 'हिन्दी भाषा' नामक ग्रंथ में स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र ने भी खड़ी बोली बतलाया है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह इस विषय में कहीं कुछ लिखते नहीं पाये गये, और यदि लिखा है तो वह मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। भारतेन्दुजी के बाद के लेखकों ने प्रायः यथावसर वर्त्तमान हिन्दी-गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रयोग किया है; परन्तु अनेक लेखकों ने इस शब्द पर कटाक्ष भी किया है। स्वर्गीय 'प्रेमघन' महोदय खड़ी बोली के स्थान पर 'खरी बोली' लिखना पसंद करते थे। मेरे एक पद्य-ग्रंथ की आलोचना करते हुए उन्होंने उस पद्य-ग्रंथ की भाषा को खरी बोली लिखा है। जिस समय ब्रजभाषा और खड़ी बोली के पद्यों को लेकर तुमुल आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और उभय दल के सहृदय-वृन्द अपने-अपने पक्ष को लेकर विवाद-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, उस समय इस शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ और ब्रजभाषा अथवा खड़ी बोली की भिन्न-भिन्न सीमा निर्धारित हो गयी। पहले यह सीमा

इतनी अस्पष्ट थी कि मौलवी मुहम्मद हुसेन साहब आजाद-जैसे विशेषज्ञ ने भी अपने एक प्रसिद्ध ग्रंथ में उर्दू की उत्पत्ति ब्रजभाषा से बतलायी है। यद्यपि यह सत्य नहीं है। वास्तविक बात यह है कि उर्दू की उत्पत्ति हिन्दी की उस शाखा से हुई है जो मेरठ और दिल्ली के आस-पास बोली जाती है। यह सत्य होने पर भी कि शौरसेनी भाषा के रूपान्तर दोनों ही हैं, जितना अन्तर इन दोनों में पाया जाता है, उतना अन्तर अवधी और ब्रजभाषा में नहीं मिलता यद्यपि अवधी का आधार अर्ध-मागधी है। खड़ी बोली के नाम-करण के विषय में जो तर्क-वितर्क हो, किन्तु इस बोली का प्रचार खुसरो के पहले ही पाया जाता है जो कि १४वें शतक में हुए हैं। खुसरो की अनेक रचनाएँ खड़ी बोली में हैं। जहाँ वे अपनी प्रसिद्ध गजल "दुराय नैना बनाय बतियाँ" में शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं, वहाँ अपने निम्नलिखित पद्य में शुद्ध खड़ी बोली का भी—

"खा गया पी गया दे गया बुत्ता"

कबीर साहब और कविवर भूषण की रचनाओं में भी खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है। मैं उनके पद्यों को भी उदाहरण में उठाता, परन्तु स्थान का संकोच है।

कथन का प्रयोजन यह कि खड़ी बोली की कविता का प्रचार सर्वथा आधुनिक नहीं है। उसका बीज उस काल से पाया जाता है, जब अपभ्रंश भाषा का स्थान हिन्दी भाषा ग्रहण कर रही थी। किन्तु यह सत्य है कि उसका व्यापक प्रचार आधुनिक है और वर्त्तमान हिन्दी गद्य तथा उर्दू भाषा के साहचर्य्य से ऐसा होना अवश्यम्भावी था। स्वर्गीय बाबू अयोध्या प्रसाद स्वयं कवि नहीं थे; परन्तु खड़ी बोली के व्यापक प्रचार में उनका बहुत कुछ हाथ है। श्रीमान् पं० श्रीधर पाठकजी ने उसके प्रचार का उद्योग ही नहीं किया, वरन् इस भाषा में उन्होंने कविता ग्रंथ भी लिखे। उनका जो द्वन्द्व इस विषय में स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र के साथ

हुआ और जो विद्वत्तापूर्ण लेखादि इस विषय में दोनों ओर से लिखे गये वे बहुमूल्य हैं। उस समय के इस प्रकार के लेखों का यदि एक संग्रह प्रकाशित हो जाता तो वह अभूतपूर्व और बड़ा मनोरंजक होता; साथ ही उसके द्वारा नवीन जिज्ञासुओं की बहुत अधिक इष्ट-सिद्धि भी होती। किन्तु खेद है कि अभी इधर किसी की दृष्टि नहीं गयी।

ऊपर मैं कह आया हूँ कि खड़ी बोली के आन्दोलन का युग समाप्त हो गया है, तथापि उसकी कुत्सा करनेवाले कुछ सज्जन अभी मौजूद हैं। वह कभी-कभी आज भी खड़ी बोली की कविता पर आक्रमण करते हैं और जो जी में आता है उसके विषय में कह डालते हैं। उनका कथन है कि खड़ी बोली की कविता कर्कश भाषा की सहोदरा है—न उसमें लालित्य है, न सौंदर्य, न उसमें भाव है, न भावुकता। सरसता का उसमें नाम नहीं, माधुर्य का उसमें लेश नहीं। हृदय-स्पर्श करना उसको आता नहीं, सहृदयता उसको छूती तक नहीं, न तो उसके गगनांगण में अब तक किसी सूर का उदय हुआ, न सुधा स्रावी-तुलसी-मयंक का दर्शन, फिर खड़ी बोली की कविता है तो क्या? जो कविता श्रवण-सुखद नहीं, जिसमें झंकार नहीं, जिसमें ओज नहीं, प्रसाद नहीं, वह भी कोई कविता है? मेरा यह निवेदन है कि ब्रजभाषा की कविता से खड़ी बोली की कविता का मिलान क्या? जिस भाषा की कविता पाँच सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन है, जो हिन्दी-संसार के सूर और शशि के आलोक से आलोकित है, जिसके पादाम्बुजों पर आचार्य केशव-जैसे वावदूक विद्वान और, बिहारी-जैसे लोकोत्तर सहृदयों ने कान्त कुसुमावलि चढ़ायी है, जिसमें अलौकिक पारिजात-पुष्प विराजमान हैं, जिसमें किसी मनमोहन का मनमोहक मुरलि-निनाद अहरह श्रवणगत होता है, जो सहस्रशः भावुक जनों के करों से लालित होकर भुवनाभिराम हो गयी, मँज गयी और सुन्दर बन गयी है, उससे इस भाषा की तुलना क्या, जिसके उत्थान को अभी पचास वर्ष भी नहीं हुए। सूर और शशि सारे सौर-मंडल में एक ही एक

दृष्टिगत होते हैं। कवि-कुल-गुरु सूरदास और तुलसीदास की चर्चा ही क्या, वे लोग वे अमूल्य रत्न हैं, जो कभी-कभी हस्तगत होते हैं। ब्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली उसका सर्वस्व है उसका सौन्दर्य, माधुर्य, लालित्य, उसकी हृदयग्राहिता, सरसता और भाव-प्रबलता मनोमुग्धकर है। यह सब स्वीकार करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि खड़ी बोली की कविता वैसी ही है जैसी कि कतिपय विपक्षी सज्जन उसे बतलाकर अपने हृदय के फफोले फोड़ा करते हैं। भाषा की कर्कशता और कोमलता का सम्बन्ध शब्दावली से होने पर भी उसका बहुत बड़ा सम्बन्ध संस्कृत से भी है। सरस कविताओं में ब्रजभाषा के कविगण टवर्ग और संयुक्त वर्णों का प्रायः त्याग करते हैं—श को स कर देते हैं, ङ और ञ का लिखना अच्छा नहीं समझते, व्यंजनों के पंचम वर्ण का काम प्रायः अनुस्वार से से लेते हैं और उन शब्दों के संयुक्त वर्णों को बहुधा अकारान्त और असंयुक्त बना देते हैं, जिनका प्रयोग करना उन्हें वांछित होता है। जिस क्रिया से शब्द विकृत हो जाता हो, उसका स्वरूप बिगड़ जाता हो, वह अशुद्ध हो जाता हो, इसकी इन्हें परवा नहीं होती। ब्रजभाषा का नियम ही ऐसा है। खड़ी बोली की कविता ऐसे अधिकांश दोषों से मुक्त होती है, यह उसकी विशेष महत्ता है। प्राकृत भाषाओं में अधिकतर णकार और टकार और ऐसे ही कई एक श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग होने पर भी वह संस्कृत से मधुर मानी जाती है। संस्कृत और प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान् राजशेखर एक स्थान पर कहते हैं—"परुसासक्क अवंधा पाऊ अवंधो विहोइ सुउमारो" अर्थात् संस्कृत परुष और प्राकृत भाषा सुकुमार होती है। तो क्या संस्कृत भाषा परुष होती है? उसमें कोमलता और सुकुमारता नहीं है? यदि यह सत्य है, तो संस्कृत साहित्य का शब्दालंकार विभाग ही व्यर्थ हो जाता है। कोमल पद-विन्यास पटु विद्वद्वर जयदेवजी के इस कथन का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता—"मधुरकोमलकान्त

पदावली शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्" । मेरा तो विचार है कि कादम्बरी और गीत गोविन्द में जैसा सरस और कोमल पद-विन्यास है, शायद ही संसार की किसी भाषा को वैसे शब्द-विन्यास का गौरव प्राप्त हो । क्या गीत गोविन्द के निम्नलिखित पद्यों को पढ़कर हृत्तंत्री निनादित नहीं हो उठती और कानों में सुधावर्षण होने नहीं लगता—

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे ।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे ।।

फिर क्या कारण है कि संस्कृत को परुष कहा गया है । वास्तव बात यह है कि राजशेखर की प्राकृत सम्बन्धिनी संस्कृति ने उनको ऐसा कहने के लिए विवश किया । यह कहा जा सकता है कि उन्होंने प्राकृत की तुलना में संस्कृत को परुष कहा है; किन्तु अनेक विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं । संस्कृत का तो शायद ही कोई विद्वान् इसे माने । अतएव इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता कि प्राकृत संस्कृति के कारण ही उन्होंने ऐसा कहा । वैसे ही जैसे श्रुतिकटु वर्णों टवर्ग और डवर्ग से भरी अँगरेजी को एक अँगरेज; ग़ैन, क़ाफ़, फ़े, जे इत्यादि कर्ण-विदीर्णकारी वर्णों से भरी अरबी को एक अरब और शीन, व, थे इत्यादि अक्षरों से युक्त फारसी को एक मुसलमान कोमल, मधुर और सुन्दर बतलाता है । जैसे इन लोगों की अपनी-अपनी एक संस्कृति, अपनी-अपनी भाषाओं के विषय में है, उसी प्रकार खड़ी बोली के कवियों की भी एक संस्कृति खड़ी बोली के विषय में है, उसी संस्कृति से खड़ी बोली की कोमलता और मधुरता इत्यादि की जाँच होनी चाहिये, अन्यथा न्याय होना असम्भव है । मैं यह नहीं कहता कि खड़ी बोली से ब्रजभाषा मधुर और कोमल नहीं है, वरन् मैं यह कहता हूँ कि ब्रजभाषा को आदर्श मानकर जो खड़ी बोली को कर्कश बतलाते हैं, उनका आक्षेप तर्कसंगत नहीं है । ऐसे अवसरों पर उनको खड़ी बोली की संस्कृति का विचार

करना चाहिये और तत्पश्चात् उसके कोमल और मधुर होने की मीमांसा करनी चाहिये। एक बार एक खड़ी बोली के आलोचक सज्जन ने कहा कि खड़ी बोली की कविता तो उर्दू इतनी भी कोमल और मधुर नहीं होती। मैंने कहा कि क्यों? उन्होंने कहा कि उसमें श्रुतिकटु शब्द बहुत आये हैं। मैंने कहा कि उर्दू में तो श्रुतिकटु शब्दों की भरमार होती है, यह दूसरी बात है कि उर्दू पर कृपादृष्टि होने कारण आप उसके श्रुतिकटु शब्दों को श्रुतिकटु न मानें। यह कहकर मैंने यह शेर पढ़ा—

जादये रहे बक़ा ग़ैर ज़ फ़ेना मिलता नहीं।
है ख़ुदी जब तक कि इन्साँ में ख़ुदा मिलता नहीं॥

और उनका ध्यान फ़ेना, ग़ैर, बक़ा, ख़ुदी व ख़ुदा पर दिलाया। वे मेरी बात सुनकर हँसने लगे। इतना लिखने का प्रयोजन यह कि खड़ी बोली की कविता को जितना कर्कश बतलाया जाता है और जिस प्रकार तिल को ताड़ बनाया जाता है, वह सत्य नहीं है। खड़ी बोली में भावमय रचनाएँ भी हुई हैं और उनमें मनोहर और हृदयग्राही कृतियाँ भी हैं। यह दूसरी बात है कि उन्हें आदर की दृष्टि से न देखा जाय और उनकी अपेक्षा की जाय। मैं उदाहरणों द्वारा इस विषय को सिद्ध करता, किन्तु लेख बढ़ने से डरता हूँ, तथापि एक उदाहरण उपस्थित करता हूँ। यह किसी खड़ी बोली के लब्धप्रतिष्ठ कवि की कविता नहीं है, तो भी आप देखिये इसमें कुछ तत्व है या नहीं, यह मर्म-स्पर्शी है या नहीं और इसकी पंक्तियों में सजीवता आप पाते हैं या नहीं—

देश की ओर से कान बहरे किये
आँख रखते हुए हाय अन्धे बने।
लाख घर-घर में रोना पड़ा पर यहाँ
रात दिन नाच गाना बजाना हुआ॥

शस्य से श्यामला भूमि में इस तरह
अन्न का, वस्त्र का, जन का टोटा पड़ा।
रत्नगर्भा के लालों को परदेश में
कौड़ियों में कुली बन के जाना पड़ा॥

मैंने खड़ी बोली की कर्कशता के विषय में इस समय जो निवेदन किया है, उससे यह न समझना चाहिये कि मैंने अपने दोषों को देखने में आँखें बन्द कर ली हैं। खड़ी बोली की कविता में कर्कशता है, किसी-किसी कविता में आवश्यकता से अधिक कर्कशता है, लेकिन कुल कविता ही ऐसी है यह मैं नहीं मानता। जो लोग इस विषय में असंयत हैं, जो लोग अपनी कविता में संस्कृत शब्दों का भरमार करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं, उन्हें सावधान होना चाहिये। जो कविता गद्यमय अथवा प्रोजेइक है उसे कविता नहीं कहा जा सकता। तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग उचित नहीं। जितना ही कोमल शब्द-विन्यास होगा, कविता उतनी ही सुन्दर होगी। जब तक हमारा काम हिन्दी के प्रचलित शब्दों से चलता है, तब तक हमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग न करना चाहिये। जहाँ कान हम लिख सकते हैं वहाँ कर्ण न लिखें। पद्य की शिथिलता से अवश्य बचना चाहिये, शैली भी उपेक्षणीय नहीं, परन्तु इन सबसे अधिक प्रसादगुण वाँछनीय है। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसको अधिक से अधिक लोग समझ सकें। आजकल शुद्ध शब्द प्रयोग करने का उन्माद हो गया है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम 'हाथ' के स्थान पर 'हस्त' 'पाँव' के स्थान पर 'पद', और 'आँख के स्थान पर 'अक्षि' लिखने लगें। ऐसी अवस्था में हिन्दी भाषा का हिन्दीपन लोप हो जायेगा। और वह एक कृत्रिम भाषा बन जायेगी। हम नहीं कहते कि आप शंकर के स्थान पर संकर अथवा शंका के स्थान पर संका लिखिये; किन्तु यह भी उचित नहीं है

कि थल के स्थान पर स्थल और पानी के स्थान पर पानीय लिखने का ही आग्रह किया जावे। मेरे 'प्रिय-प्रवास' ग्रंथ का बहुत अनुकरण हुआ है, उसकी विशेषताओं का ध्यान करके उसके संस्कृत छन्दों और शब्दों के प्रयोग पर अधिक दृष्टि दी गयी है। ऐसे कुछ ग्रंथ छप गये हैं और कुछ छपने के लिये प्रस्तुत हैं। मैं उत्साही और प्रतिभाशाली नवयुवकों का साहित्य-क्षेत्र में सादर अभिनन्दन करता हूँ और उनके वर्द्धोन्मुख प्रयत्नों की सहस मुख से प्रशंसा। तथापि यह निवेदन करने के लिए भी विवश हूँ कि अन्धाधुन्ध अनुकरण अच्छा नहीं। प्रियप्रवास लिखकर उच्च कोटि की हिन्दी और अन्त्यानुप्रास-रहित पद्य का आदर्श उपस्थित करने की मैंने चेष्टा की है। मैं अपने उद्देश्यों में सफल हुआ हूँ या नहीं, इसको समय बतलावेगा। किन्तु उसका पथ कण्टकाकीर्ण और विषम है। जो प्रतिभाशाली और साहसी युवक उस पथ को ग्रहण करना चाहते हैं, ग्रहण करें, मुझको हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं। किन्तु मेरा सविनय निवेदन यही है कि सरल हिन्दी लिखने का ही प्रयत्न किया जावे; क्योंकि सर्वसाधारण का उपकार इसी प्रकार की हिन्दी से होने की आशा है। कोई-कोई सज्जन कभी-कभी मुझ पर यह आक्षेप भी करते हैं कि मेरा कोई निश्चित मार्ग अथवा कोई नियमित शैली नहीं। कभी ब्रज-की कविता करता हूँ, तो कभी प्रियप्रवास की भाषा लिखने लगता हूँ, और कभी बोलचाल की ओर ढल जाता हूँ, और इस प्रकार घड़ी-घड़ी रंग बदलता रहता हूँ। किन्तु, यह सत्य नहीं है। मैं अपने विचारानुसार प्रत्येक प्रकार की हिन्दी का उदाहरण उपस्थित कर देना चाहता हूँ। परन्तु प्यार सरल हिन्दी ही को करता हूँ और उसी में कविता करना उपकारक और उत्तम समझता हूँ। मैं यहाँ अपनी प्रत्येक प्रकार की हिन्दी कविता का एक-एक उदाहरण उपस्थित करता हूँ। देश-कालानुसार दूसरी और तीसरी शैली ही अधिक उपयोगिनी है; अतएव मैं इन्हीं दोनों शैलियों में खड़ी बोली की कविता करने का विशेष पक्षपाती हूँ और

नवयुवकों को उसी शैली को ग्रहण करने की अनुमति देता हूँ। पद्यों के उदाहरण ये हैं:—

रस मिले सरसावन सौ गुनी।
विलस मंजु विलासवती बने॥
कर विमुग्ध सकी किसको नहीं।
कुसुमिता न मिता वनिता लता॥
फरहरा हमारा था नभ में फहराया।
सिर पर सुरपुर ने था प्रसून बरसाया॥
था रत्न हमें देता समुद्र लहराया।
था भूतल से कमनीय फूल फल पाया।
हम-सा त्रिलोक में सुखित कौन दिखलाता।
था कभी हमारा यश वसुधा-तल गाता॥
राह में आँखें बिछाईं सोच यह।
पंखड़ी कोई न पाँवों में गड़े॥
पाँवड़े मैं डालता क्यों दूसरे।
पाँवड़े मेरी पलक के हैं पड़े॥

वर्तमान अवस्था और रहस्यवाद

खड़ी बोली के इतिहास में वर्तमान अवस्था को हम सन्तोषजनक कह सकते हैं। इस समय उसका अधिक प्रचार हो रहा है और आधुनिक युवकमण्डल की दृष्टि इस ओर विशेषतया आकृष्ट हो गयी है। मासिक पत्रों में आजकल खड़ी बोली की उत्कृष्ट कविताएँ निकल रही हैं। उनका यथोचित समादर भी हो रहा है और उल्लेखयोग्य कविता-ग्रन्थ भी लिखे जा रहे हैं। सबसे विशेष हर्ष की बात यह है कि इन दिनों शृंगार रस का प्रवाह एक प्रकार से बन्द हो गया है और सब ओर देशानुराग, जाति-प्रेम, समाज-सुधार इत्यादि की तानें सुनायी दे रही हैं। हमारी आँखें

बहुत कुछ खुल गयी हैं और हम जननी-जन्मभूमि को पहचानने लगे हैं, हमारे हृदय की आकृति आज भी भावमयी है; किन्तु उसमें आत्म-गौरव, आत्म-रक्षा, आत्मानुभूति के स्वर भरे हुए हैं। कविकुल-कल्पना की इति-श्री कामिनि-कमनीया में ही नहीं हो जाती, हास-विलास में ही उसका चमत्कार नहीं समाप्त हो जाता है, काम-कलाओं के प्रदर्शन में ही उसकी विलक्षणता नहीं पर्यवसित होती है। अब वह स्वाधीनता के गगन में उड़ती है। सामाजिक अवस्था के उदधि-गर्भ में प्रवेश करती है, जातीयता के मन्त्र से अभिमन्त्रित होती है, जाति-अधःपात पर रोती है और विदीर्ण हृदयों के दुःखों से स्वयं विदीर्ण-हृदय बनती है। कवि की प्रतिभा आज अन्तर्मुखी है, वह हृदयों को टटोलती है, उसके सूक्ष्म भावों को विचारती है, मनोविज्ञान के रहस्यों का उद्‌घाटन करती है और मर्मस्थलों के मर्म जानने में संलग्न रहती है। यह शुभ लक्षण है, विचार से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, भाव ही अभाव का अनुभव करता है, चेष्टा ही सफलता की जननी है। जो हृदयोद्‌गार होता है, अन्तर का उच्छ्वास होता है, वही लेखनी का विषय होता है, वही पथ बाध्य होकर निर्जीव को सजीव कर देता है; रगों में बिजली भरता है और मृतकप्राय जाति के लिये मृत-संजीवनी का काम देता है। देश का सौभाग्य है जो आज हम लोगों में इस प्रकार का परिवर्तन हो गया है। खड़ी बोली के पद्यों में कवितागत कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों; किन्तु वह इसलिए आदरणीय है कि उसने देश और जाति के रोग को पहचाना है और उसकी चिकित्सा में लग्न है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि उसको जितना अग्रसर होना चाहिए अब तक वह उतना अग्रसर नहीं हुई है। जो विशाल कार्य उसको करना है उसका एक लघु भाग भी अब तक वह नहीं कर सकी है, अबतक वह सर्वतोमुखी नहीं है और न वह उतनी श्री-सम्पन्न है जितना उसे होना चाहिये। इसके अनेक कारण हैं। तथापि हमको हतोत्साह न होना चाहिये। आशा का प्रफुल्लित उद्यान हमारे सामने है। उसमें हमको वे

मनोहर और सौरभमय सुमन मिलेंगे जिनसे हिन्दी-संसार सौरभित हो जायेगा। यह कहते हृदय व्यथित होता है कि संस्कृत के विद्वानों और लक्ष्मी के लालों की उचित दृष्टि अब तक इधर नहीं हुई; तथापि यह निश्चित है कि उद्योग गगन-नवराग-रंजित होगा और उसमें सफलता की सुनहली किरणें आलोक विकीर्ण करती दृष्टिगोचर होंगी।

आजकल खड़ी बोली कविता-संसार में एक प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत हुई है। हमारे युवक-मंडल का ध्यान इन दिनों रहस्यवाद अथवा छायावाद की ओर विशेष आकृष्ट हुआ है। वे इस विषय की कविताएँ भी इस समय अधिकता से कर रहे हैं। यह विषय नवीन नहीं, प्राचीन है। हिन्दी भाषा में सुन्दर से सुन्दर कविताएँ रहस्यवाद की मौजूद हैं। खड़ी बोली में इस प्रकार की कविता करने का उद्योग आदरणीय और अभिनन्दनीय है। किन्तु, उसका अबाध और उच्छृंखल प्रवाह वांछनीय नहीं। खड़ी बोली के कविता-लेखकों पर यह आक्षेप किया जाता है कि उनमें अधिकांश ऐसे हैं जिनमें न तो प्रतिभा है, न छन्दज्ञान, न मार्मिकता, न सहृदयता, न सुन्दर शब्द-विन्यास की शक्ति, न भावप्रकाशन की यथोचित क्षमता। न उनकी कविताओं में सरसता होती है, न मधुरता और न प्रसादगुण और न वाच्यार्थ की स्पष्टता, फिर भी उनकी लेखनी असंकुचित रूप से चलती है और काव्य-संसार को कलुषित कर रही है। यह कथन अधिकांश युक्तिसंगत नहीं; किन्तु सर्वथा निर्मूल भी नहीं है। रहस्यवाद की आधुनिक अनेक कविताओं ने इन आक्षेपों को और प्रश्रय दिया है। इसकी मुझको व्यथा है, अतएव मैं समस्त खड़ी बोली के कविता-लेखकों को साधारणतया और रहस्यवाद के कवियों को विशेषतया इस विषय में सावधान करता हूँ। श्रीमान् बाबू जयशंकर प्रसाद काशी-निवासी की रहस्यवाद की कविताएँ सुन्दर होती थीं। खड़ी बोली में इस प्रकार की कवितओं के आप प्रथम लेखक थे। प्रियवर पं० सुमित्रानन्दन पन्त, प्रियवर गिरीश, श्रीमान् महतो, श्रीमान् गुलाब, श्रीमान् निर्मल और

श्रीमान् निराला इत्यादि कतिपय नवयुवकों ने भी इस विषय की अच्छी रचनाएँ की हैं; किन्तु यह कहने के लिए मैं विवश हूँ कि कुछ इने-गिने सहृदयों को छोड़कर अधिकतर लोगों की रहस्यवाद की कविताएँ उपहासास्पद होती हैं। मुझको ऐसे रहस्यवाद की कविता के लेखक भी मिले हैं जो पूछने पर अपनी कविताओं का अर्थ स्वयं नहीं बतला सके, यह अत्यन्त लज्जा और दुख की बात है। ऐसी कविताओं से क्या इष्ट-सिद्धि हो सकती है? वे लोग इसको स्वयं सोचें।

रहस्यवाद अथवा मिस्टिसिज्म क्या है? और कुछ नहीं, इस रहस्यमय संसार का रहस्योद्घाटन है। संसार रहस्यमय है, इसका एक-एक रजकण चमत्कारपूर्ण है। सुनील निर्मल गगन, अनन्त तारकपुंज, कलकल-निनादिनी सरिता, श्यामल तृणराजि, कलित कुसुमावली, हरे-भरे पादपवृन्द, चित्र-विचित्र विहंगम समूह, नाना रत्नचय, मानव शरीर, उत्तुंग शैलमाला, तरंगायमान जलधि, जिधर नेत्र उठाइये उधर ही रहस्यमय दृश्य सामने आता है। यही नहीं ब्रह्म क्या है? वास्तव में कुछ है या नहीं। संसार क्या है? क्यों बना? जीवन-मरण क्या है? नियति-चक्र किसे कहते हैं? सांसारिक नाना क्रिया-कलाप का अर्थ क्या है? प्रयोजन क्या है? जीवन की सार्थकता क्या है? क्यों कोई माई का लाल है? क्यों कोई काल है? क्यों कोई सुखी है? क्यों कोई दुखी है? ऐसे-ऐसे नाना प्रश्न भी हमारे सामने आते हैं, नाना तर्कनाएँ हृदय में उठती हैं। इनका उत्तर देने की चेष्टा, संसार के मर्मों के उद्घाटन का उद्योग, प्रत्येक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान लाभ करने का यत्न चिरकाल से हो रहा है। अब भी होता है, भविष्य में भी होगा। किन्तु, यह अज्ञेयवाद जैसा पहले था आज भी वैसा ही है, भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। इस विषय में जिसका जितना ज्ञान है, जिसकी पहुँच जहाँ तक है, वह वहाँ तक प्रत्येक विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करता है; किन्तु असीम गगन का अन्त पाना साधारण विहरणशील किसी विहंग

का कार्य नहीं है। जब हम सुनते हैं—'न तत्र वाङ् गच्छति न मनो गच्छति'—ऐ बरत अजख़ेयाल क़यासो गुमानव वहम', तो चित्त चिन्तित हो जाता है। उत्कण्ठा द्विगुण हो जाती है। जब कान में यह ध्वनि पड़ती है—'जेहि जाने जग जाइ हेराई'—'आंराकि ख़बर शुद ख़बरश बाज़ नयामद', तो मन कहता है कि यह क्या जटिल समस्या है? क्या प्रपंच है? फिर यह आकाशवाणी होती है—'तत्त्वमसि, ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैवनापरः' 'सर्वम् खल्विदम् ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन', तो नेत्रों के सामने से एक महान् आवरण हट-सा जाता है और मन एक अनिर्वचनीय आनन्द में निमग्न हो जाता है; किन्तु तो भी समाधान की पराकाष्ठा नहीं होती। जब हमको बतलाया जाता है 'लव इज़ गॉड, गॉड इज़ लव' 'टु सी गॉड इज़ टु सी ऐज़ गॉड सीज़'—'दिल के आइने में है तस्वीरे' यार जब जरा गरदन झुकाई देख ली', 'न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले, मोक्षोहि मनसोशुद्धिः सम्यग्ज्ञान विबोधितम्'—तब चित्त को महान् आश्वासन होता है; परन्तु जिज्ञासा का निराकरण फिर भी नहीं होता। प्रयोजन यह कि इस प्रकार की अनेक बातें हैं, जो हमको संसार का रहस्योद्घाटन के लिए चंचल, आतुर और मननशील बनाती हैं। समय-समय पर इन समस्त विषयों में जब जिसको आभास मिला है, जो अनुभव हुआ है उसने उसको अपने विचारानुसार प्रकट करने की चेष्टा की है। जो नहीं बतलाया जा सकता है उसको कैसे बतलाया जावे, यदि और कुछ नहीं, तो उसके विषय में कुछ संकेत ही किया जावे, उसकी छाया ही दिखलायी जावे। इसी उद्योग और भाव-प्रकाशन की रीति का परिणाम रहस्यवाद और छायावाद है। मान्य वेदों के अनेक वचन, उपनिषदों के अनेक वाक्य, वेदांतदर्शन के कतिपय प्रसंग, मौलाना रूम की मनसवी, उमर खय्याम और हाफिज की बहुत-सी रचनाएँ और हमारे यहाँ के सन्तों की अनेक वाणियाँ इस प्रकार की हैं और उनमें बहुत कुछ तत्व भरा हुआ है। वर्तमान महानुभावों में संसार भर में कवि सम्राट्

रवींद्रनाथ ठाकुर की इस प्रकार की रचनाएँ सर्वोच्च हैं। इस महापुरुष ने इस विषय में लिखकर जो भावना दिखलायी है वह अभूतपूर्व और अद्भुत है। रहस्यवाद पर लेखनी चलाना सुगम नहीं, इसके लिये बहुत बड़े अनुभव और सर्वव्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। मैं कबीर साहब की कतिपय साखियों को यहाँ उठाकर इस विषय पर कुछ और प्रकाश डालना चाहता हूँ। अन्य ग्रंथों के उदाहरण के लिए स्थान का संकोच है:—

सरपहिं दूध पियाइये सोई बिस ह्वै जाय।
ऐसा कोई ना मिला आपे ही बिख खाय।

घर जारे घर ऊबरै घर राखे घर जाय।
एक अचंभा देखिया मुआ काल को खाय।

पाया कहें ते बावरे खोया कहें ते कूर।
पाया-खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर॥

आसा जीवै जग मरै लोग मरै मर जाहि।
धन संचै सो भी मरै, उबरै सो धन खाहि॥

भरो होय सो रीतई रीतो होय भराय।
रीतो भरो न पाइये अनुभव सोइ कहाय॥

रहस्यवाद के बड़े अच्छे ये दोहे हैं। इनमें कतिपय रहस्यों का उद्घाटन है, इसमें अनुभव और ज्ञान की ज्योति निकल रही है और कतिपय सिद्धांतों पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ रहा है। परन्तु, कबीर साहब के कुछ ऐसे पद्य भी हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं है। मन-गढ़न्त की बात दूसरी है, पर वास्तव बात यह है कि भाषा और भाव उनका तत्व प्रकट करने में असमर्थ हैं, जैसे—

घर-घर मुसरी मंगल गावै, कछुआ संख बजावै।
पहिर चोलना गदहा नाचै भैंसा भगत करावै॥

यदि इसका अर्थ असंभवतापरक मानकर ईश्वर-ज्ञान-विषयक असंभवता का संदेश इसको समझा जावे, तो इन चरणों की कुछ सार्थकता हो सकती है, तो भी यह कष्ट कल्पना है। वाच्यार्थ और शब्द-शास्त्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। खेद है कि आधुनिक रहस्यवाद की कविता अधिकांश ऐसी ही है। उत्साही और होनहार युवकों से मेरा यह सविनय निवेदन है कि वे प्रथम प्रकार की कविता करने का उद्योग करें। अंड-बंड कविता-रचना से बचें, अन्यथा खड़ी बोली की कविता कलंकित तो होगी ही उसका उद्देश्य भी सिद्ध न होगा। कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पदानुसरण करना गौरव की बात है, उनको आदर्श बनाना समुन्नति का साधन है, श्रेय का हेतु है, तथापि यह कहना पड़ेगा कि उचित योग्यता और अनुभव प्राप्त किये बिना ऐसी कामना करना बातुलता और वामन-चन्द्र-स्पर्श समान साहस है।

रहस्यवाद के अनुरागियों से मेरा एक निवेदन और है। वह यह कि अपनी कविता को यदि वे विश्व-संगीत समझते हैं तो समझें, उसमें विश्वबन्धुत्व का भाव और राग उनको सुन पड़ता है तो वे सहर्ष उसको सुनें और दूसरों को भी सुनाकर विमुग्ध बनावें, इसमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु कृपा करके प्राचीन कवियों पर कटाक्ष न करें और उनकी कुत्सा करने के लिए कटिबद्ध न होवें। आप अपने हृदय में उनको संकीर्ण समझें, उनको उन्मार्गगामी मानें। अपने को उच्च विचार का और विवेकी विचारते रहें, परन्तु उनके गुरु पद पर पद-प्रहार न करें। सूर सूर हैं, जिनकी ज्योति से हिन्दी-संसार देदीप्यमान है, गोस्वामी तुलसीदास उस उच्च पद पर आरूढ़ हैं, जहाँ आज तक हिन्दी-संसार का कोई कवि नहीं पहुँचा। बिहारी हिन्दी-साहित्योद्यान-कोकिल हैं, और देव काव्य-सर-सरसीरुह। इसी प्रकार ब्रजभाषा के बहुत-से मान्य प्राचीन और आधुनिक कवि किसी न किसी विशेष गौरव से गौरवित हैं। वे हमलोगों के विकास-हेतु हैं, और हमारे गुरुवर हैं। उन्हीं की उँगली पकड़कर हमने

साहित्यांगण में पद-संचालन सीखा है और हिन्दी सुन्दरी उन्हीं के सुहाग से सौभाग्यवती है। अतएव यदि हम उनके उपकारों और महत्व को न समझें, तो उनकी कुत्सा करके लांछित भी न बनें। बिना उनकी अयोग्यता प्रगट किये भी हम योग्य और बिना किसी माननीय की अवमानना किये भी हम मान्य हो सकते हैं। इसी प्रकार महान हृदया ब्रजभाषा की निन्दा करना भी उचित नहीं। आप की खड़ी बोली सर्वाङ्ग सुन्दरी हो, अनेक भूषण-आभूषिता हो, उन्नति और प्रगतिशीला हो तो हो, आप उसे ऐसा ही समझें, पर ब्रजभाषा को भी पूजनीया समझें। ब्रजभाषा देवी के समान हमारी आराध्या है। आप उसकी आराधना अवश्य करें, वह आपकी कामना-वेलि को कुसुमित और पल्लवित करेगी, और आपको वे रत्न प्रदान करेगी, जिसके द्वारा आपकी खड़ी बोली का साहित्य जगमगा उठेगा।*

---

* परिशिष्ट

छायावाद

आज कल हिन्दी-संसार में छायावाद की रचनाओं की ओर युवक दल की रुचि अधिकतर आकर्षित है। दस-बारह वर्ष पहले जो भावनाएँ थोड़े से हृदयों में उदित हुई थीं, इन दिनों वे इतनी प्रबल हो गयी हैं कि उन्हीं का उद्‌घोष चारों ओर श्रुति-गोचर हो रहा है। जिस नवयुवक कवि को देखिये आज वही उसकी ध्वनि के साथ अपना कण्ठस्वर मिलाने के लिये यत्नवान् है। वास्तव में बात यह है कि इस समय हिन्दी भाषा का कविता-क्षेत्र प्रति दिन छायावाद की रचना की ओर ही अग्रसर हो रहा है। इस विषय में वाद-विवाद भी हो रहा है, तर्क-वितर्क भी चल रहे हैं, कुछ लोग उसके अनुकूल हैं, कुछ प्रति-कूल। कुछ उसको स्वर्गीय वस्तु समझते हैं और कुछ उसको कविता भी नहीं मानते। ये झगड़े हों, किन्तु यह सत्य है कि दिन-दिन छायावाद की कविता का ही समादर बढ़ रहा है। इसे देख कर यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसमें कोई ऐसी बात अवश्य है जिससे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और अधिक लोगों के हृदय पर उसका अधिकार होता जाता है।

संस्कृत का एक सिद्धान्त है—'समय एव करोति बलाबलम्'। समय ही बल प्रदान करता है और अबल बनाता है। मेरा विचार है कि यह समय क्रान्ति का है। सब क्षेत्रों में क्रान्ति उत्पन्न हो रही है तो कविता-क्षेत्र में क्रान्ति क्यों न उत्पन्न होती? दूसरी बात यह है कि आजकल योरोपीय विचारों, भावों और भावनाओं का प्रवाह भारतवर्ष में बह रहा है। जो कुछ विलायत में होता है उसका अनुकरण करने की चेष्टा यहाँ की सुशिक्षित मण्डली द्वारा प्रायः होती है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही रहस्यवाद की कविताओं का प्रचार योरप में हुआ। उमर खय्याम की रुबाइयों का अनुवाद योरप की कई भाषाओं में किया गया जिससे वहाँ की रहस्यवाद की रचनाओं को और अधिक प्रगति मिली। इन्हीं दिनों भगवती वीणापाणि के वरपुत्र कवीन्द्र रवीन्द्र ने कबीर साहब की कुछ रहस्यवाद की रचनाओं का अँगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया और उसकी भूमिका में रहस्यवाद की रचनाओं पर बहुत कुछ प्रकाश डाला। इसके बाद उनकी गीतांजली के अँगरेज़ी अनुवाद का योरप में बड़ा आदर हुआ और उनको 'नोबल प्राइज़' मिला। कवीन्द्र रवीन्द्र का योरप पर यदि इतना प्रभाव पड़ा तो उनकी जन्मभूमि पर क्यों न पड़ता। निदान उन्हीं की रचनाओं और कीर्ति-मालाओं का प्रभाव ऐसा हुआ कि हिन्दी भाषी प्रान्तवाले भी उनकी इस प्रकार की रचनाओं का अनुकरण करने के लिए लालायित हुए। उनकी रचनाओं का असर यहाँ की छायावाद की कविताओं पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। कुछ लोगों ने तो उनका पद्य का पद्य अपना बना लिया है।

हमारे प्रान्त के हिन्दी भाषा के कुछ प्राचीन ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें रहस्यवाद की रचना पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। ऐसी रचना उन लोगों की है जो अधिकतर सूफ़ी सम्प्रदाय के थे। इस प्रकार की सबसे अधिक रचना कबीर साहब के ग्रन्थों में मिलती है। जायसी के 'पदमावत' और 'अखरावट' में भी इस प्रकार की अधिक कविताएँ हैं। यह स्पष्ट है

कि इन दोनों की रचनाएँ सूफ़ी से ही प्रभावित हैं। जायसी के अनुकरण में बाद को जितने प्रबंध-ग्रंथ मुसल्मान कवियों द्वारा लिखे गये हैं-उनमें भी रहस्यवाद का रंग पाया जाता है। जब देखा गया कि इस प्रकार की रचनाएँ समय के अनुकूल हैं और वे प्रतिष्ठा का साधन बन सकती हैं तो कोई कारण नहीं था कि कुछ लोग उनकी ओर आकर्षित न होते। इस शताब्दी के आरम्भ में सूफ़ियाना ख़याल की जितनी उर्दू रचनाएँ हुई हैं उनका प्रभाव भी ऐसे लोगों पर कम नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की रचनाएँ शृंगाररस का नवीन संस्करण भी हैं। जब देश में देश-प्रेमका राग छिड़ा और ऐसी रचनाएँ होने लगीं जो सामयिक परिवर्तनों के अनुकूल थीं और शृंगार रस की कुत्सा होने लगी तो उसका छायावाद की रचना के रूप में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक था। एक और बात है। वह यह कि जब वर्णनात्मक अथवा वस्तु प्रधान (Objective) रचनाओं का बाहुल्य हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया भावात्मक अथवा भाव प्रधान (Subjective) रचनाओं के द्वारा हुए बिना नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि व्यंजना और ध्वनि प्रधान काव्य ही का साहित्य-क्षेत्र में उच्च स्थान है। इसलिए चिंताशील मस्तिष्क और भाव-प्रवण हृदय इस प्रकार की रचनाओं की ओर ही अधिक खिंचता है। यह स्वाभाविकता भी है। क्योंकि वर्णनात्मक रचना में तरलता होती है और भावात्मक रचनाओं में गंभीरता और मोहकता। ऐसी दशा में इस प्रकार की रचनाओं की ओर कुछ भावुक एवं सहृदय जनों का प्रवृत्त हो जाना आश्चर्यजनक नहीं। क्योंकि प्रवृत्ति ही किसी कार्य का कारण होती है। छायावाद की कविताओं के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। 'छायावाद' शब्द कहाँ से कैसे आया, इस बात की अब तक मीमांसा न हो सकी। छायावाद के नाम से जो कविताएँ होती हैं उनको कोई 'हृदयवाद' कहता है और कोई प्रतिबिम्बवाद। अधिक-तर लोगों ने छायावाद के स्थान पर रहस्यवाद कहने की सम्मति ही

दी है। किन्तु अब तक तर्क-वितर्क चल रहा है और कोई यह निश्चित नहीं कर सका कि वास्तव में नूतन प्रणाली की कविताओं को क्या कहा जाय। इस पर बहुत लेख लिखे जा चुके हैं, पर सर्व-सम्मति से कोई बात निश्चित नहीं की जा सकी। छायावाद की अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिनको रहस्यवाद की कविता नहीं कह सकते, उनको हृदयवाद कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उसमें अतिव्याप्ति दोष है। कौन सी कविता ऐसी है जिससे हृदय का सम्बन्ध नहीं? ऐसी अवस्था में मेरा विचार है कि 'छायावाद' नाम ही नूतन प्रणाली की कविता का स्वीकार कर लिया जाय तो अनेक तर्कों का निराकरण हो जाता है। यह नाम बहुत प्रचलित है और व्यापक भी बन गया है।

'रहस्यवाद' शब्द में एक प्रकार की गम्भीरता और गहनता है। उसमें एक ऐसे गंभीर भाव की ध्वनि है जो अनिर्वचनीय है और जिस पर एक ऐसा आवरण है जिसका हटाना सुगम नहीं। किन्तु 'छायावाद' शब्द में यह बात नहीं पायी जाती। जिसमें कोई अज्ञेय दृष्टिगत न हो, परन्तु कम से कम उसका प्रतिबिम्ब मिलता है और कविकर्म्म के लिए इतना अवलम्बन अल्प नहीं। इसलिये रहस्यवाद शब्द से छायावाद शब्द में स्पष्टता और बोधगम्यता है। छायावाद का अनेक अर्थ अपने विचारानुसार लोगों ने किया है। परन्तु मेरा विचार यह है कि जिस तत्व का स्पष्टीकरण असम्भव है, उसकी व्याप्त छाया का ग्रहण कर उसके विषय में कुछ सोचना, कहना, अथवा संकेत करना असंगत नहीं। परमात्मा अचिन्तनीय हो, अव्यक्त हो, मन-वचन-अगोचर हो, परन्तु उसकी सत्ता कुछ न कुछ अवश्य है। उसकी यही सत्ता संसार के वस्तुमात्र में प्रतिबिम्बित और विराजमान है। क्या उसके आधार से उसके विषय में कुछ सोचना-विचारना युक्तिसंगत नहीं। यदि युक्ति-संगत है तो इस प्रकार की रचनाओं को यदि छायावाद नाम दिया जाय तो क्या वह विडम्बना है? यह सत्य है कि वह अनिर्वचनीयत्व

अकल्पनीय एवं मन, बुद्धि-चित्त से परे है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसके विषय में कुछ सोच-विचार ही नहीं सकते। उसके अपरिमित और अनन्त गुणों को हम न कह सकें, यह दूसरी बात है, किन्तु उसके विषय में हम कुछ कह ही नहीं सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता। संसार-समुद्र अब तक बिना छाना हुआ पड़ा है। उसके अनन्त रत्न अब तक अज्ञातावस्था में हैं। परन्तु फिर भी मनीषियों ने उसकी अनेक विभूतियों का ज्ञान प्राप्त किया है। जिससे एक ओर मनुष्यों को सांसारिक और आध्यात्मिक कई शक्तियाँ प्राप्त हुईं और दूसरी ओर संसार के तत्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा और जाग्रत् हो गयी। उस परम तत्व के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि छायावाद शब्द की व्याख्या यदि कथित रूप में ग्रहण की जाय तो उसके नाम की सार्थकता में व्याघात उपस्थित न होग। मेरी इन बातों को सुन कर कहा जा सकता है कि यह तो छायावाद को रूपान्तर से रहस्यवाद का पर्य्यायवाची शब्द बनाना है। फिर रहस्यवाद शब्द ही क्यों न ग्रहण कर लिया जाय, छायावाद शब्द की क्लिष्ट कल्पना क्यों की जाय ? ईश्वर-सम्बन्धी विषयों के लिए यह कथन ठीक है। परन्तु सांसारिक अनेक विषय और तत्व ऐसे हैं कि छायावाद की कविता में जिनका वर्णन और निरूपण होता है। उन वर्णनों और निरूपणों को रहस्यवाद की रचना नहीं कहा जा सकता। मैं समझता हूँ, इस प्रकार की कविताओं और वर्णनों के समावेश के लिए भी छायावाद नाम की कल्पना की गयी है। दूसरी बात यह है कि 'छायावाद' कहने से आजकल जिस प्रकार की कविता का बोध होता है वह बोध ही छायावाद का अर्थ क्यों न मान लिया जाय ? मेरा विचार यह है कि ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। अनेक रूढ़ि शब्दों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। आइये, एक दूसरे मार्ग से इस पर और विचार करें।

प्रातकाल फूल हँसते हैं। क्यों हँसते हैं? यह कौन जाने। वे रंग लाते हैं, महकते हैं, मोती जैसी बूदों से अपनी प्यास बुझाते हैं, सुनहले तारों से सजते हैं, किस लिए! यह कौन बतलावे। एक कालाकलूटा आता है, नाचता है, गीत गाता है, भाँवरें भरता है, झुकता है, उनके कानों में न जाने क्या क्या कहता है, रस लेता है और झूमता हुआ आगे बढ़ता है क्यों? रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहने, ताकती झाँकती अठखेलियाँ करती, एक रँगीली आती है, उनसे हिलती मिलती है, रंग-रलियाँ मनाती है, उन्हें प्यार करती है, फिर यह गयी, वह गयी, कहाँ गयी, कौन कहे? कोई इन बातों का ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सकता। अपने मन की सभी सुनाता है, पर पत्ते की बात किसने कही। आँख उठा कर देखिये, इधर-उधर, हमारे आगे-पीछे, पल-पल ऐसी अनन्त लीलाएँ होती रहती हैं, परन्तु भेद का परदा उठानेवाले कहाँ हैं? यह तो बहिर्जगत की बातें हुईं। अन्तर्जगत और विलक्षण है। वहाँ एक ऐसा खिलाड़ी है जो हवा को हवा बतलाता है, पानी में आग लगाता है, आसमान के तारे तोड़ता है, आग चबाता है, धरती को धूल में मिलाता है, स्वर्ग में फिरता है, नन्दनबन के फूल चुनता है और बैकुण्ठ में बैठ कर ऐसी हँसी हँसता है कि जिधर देखो उधर बिजली कौंधने लगती है। संसार उसकी कल्पना है, कार्यकलाप, केलि और उत्थान-पतन रंग-रहस्य। उसके तन नहीं, परन्तु भव का ताना-बाना उसी के हाथों का खेल है। वह अन्धा है, किन्तु वही तीनों लोकों की आँखों का उँजाला है। वह देवताओं के दाँत खट्टे करता है, लोक को उँगलियों पर नचाता है और उन गुत्थियों को सुलझाता है जिनका सुलझाना हँसी खेल नहीं। जहाँ वह रहता है, वहाँ की वेदनाओं में मधुरिमा है, ज्वालाओं में सुधा है, नीरवता में राग है, कुलिशता में सुमनता है और है गहनता में सुलभता। वहाँ चन्द्र नहीं, सूर्य नहीं, तारे नहीं, किन्तु वहाँ का आलोक विश्वालोक है। वहाँ बिना तार की

तन्त्री बजती है, बिना स्वर का आलाप होता है, बिना बादल रस बरसता है। और बिना रूप-रंग के ऐसे मनोहर अनन्त प्रसून विकसित होते हैं कि जिनके सौरभ से संसार सौरभित रहता है। वहिर्जगत् और अन्तर्जगत का यह रहस्य है। इनका सूत्र जिनके हाथ में है, उसकी बात ही क्या! उसके विषय में मुँह नहीं खोला जा सकता। जिसने जीभ हिलायी उसी को मुँह की खानी पड़ी। बहुतों ने सर मारा पर सब सर पकड़ के ही रह गये।

सब सही, पर रहस्यभेद का भी कुछ आनन्द है। यदि समुद्र की अगाधता देखकर लोग किनारा कर लेते तो चमकते मुक्ता दाम हाथ न आते। पहाड़ों की दुर्गमता विचार कर हाथ पाँव डाल देते तो रत्न-राशि से अलंकृत न हो सकते। लोकललाम लोकातीत हो, उनकी लीलाएँ लोकोत्तर हों, उनको लोचन न अवलोक सकें, गिरा न गा सके। उनके प्रवाह में पड़ कर विचार धारा डूब जाय, मति-तरी भग्न हो और प्रतिभा विलीन। किन्तु उनके अवलम्बन भी तो वे ही हैं। उनका मनन, चिन्तन, अवलोकन ही तो उनके जीवन का आनन्द है। आकाश असीम हो, अनन्त हो तो, खगकुल को इन प्रपंचों से क्या काम? वह तो पर खोलेगा और जी भर उसमें उड़ेगा। उसके लिए यह सुख अल्प नहीं। पारावार अपार हो, लाखों मीलों में फैला हो, अतलस्पर्शी हो, मीन को इससे प्रयोजन नहीं। वह जितनी दूर में केलि करता फिरता है, उछलता रहता है उतना ही उसका सर्वस्व है और वही उसका जीवन और अवलम्बन है। मनुष्य भी अपने भावानुकूल लोक ललाम की कल्पना करता है, संसार के विकास में उसकी विभूतियों में उस लीलामय की लीलाएँ देखता, मुग्ध होता और अलौकिक आनन्दानुभव करता है। क्या इसमें उसके जीवन की सार्थकता नहीं है? मनुष्यों में जो विशेष भावुक होते हैं, वे अपनी भावुकता को जिह्वा पर भी लाते हैं, उसको सुमनोपम कान्त पदावली द्वारा सजाते हैं, तरह-तरह के

विचार-सूत्र में गूँथते हैं और फिर उसे सहृदयता सुन्दरी के गले का हार बनाते है। इस कला में जो जितना पटु होता है, कार्य-क्षेत्र में उसको उतनी ही सफलता हाथ आती है। उसकी कृतियाँ भी उतनी ही हृदय-ग्राहिणी और सार्वजनीन होती हैं। इसलिये परिणाम भी भिन्न-भिन्न होता है। जो जितना ही आवरण हटाता है, जितना ही विषय को स्पष्ट करता है, जितना ही दुर्बोधता और जटिलताओं का निवारण करता है, वह उतना ही सफलीभूत और कृतकार्य समझा जाता है। यह सच है कि ऐसे भाग्यशाली सब नहीं होते। समुद्र में उतरकर सभी लोग मुक्ता लेकर ऊपर नहीं उठते। अधिकांश लोग घोंघे, सिवार पाकर ही रह जाते हैं। किन्तु इससे उद्योगशीलता और अनुशीलन परायणता को व्याघात नहीं पहुँचता। रहस्य की ओर संकेत किया जा सकता है, उसका आभास सामने लाया जा सकता है। हृदय दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, अन्तर्दृष्टि उसकी ओर खींची जा सकती है। क्या यह कम सफ़लता है? मनुष्य की जितनी शक्ति है, उस शक्ति से यथार्थ रीति से, काम लेने से मनुष्यता की चरितार्थता हो जाती है। और चाहिये क्या? रहस्य-भेद किसने किया? परमात्मा को लाकर जनता के सामने कौन खड़ा कर सका? तथापि संसार के जितने महाजन हैं, उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया जिससे अनेक गुत्थियाँ सुलझीं। अब भी उद्योग करने से और बुद्धि से यथार्थता पूर्वक कार्य लेने से कितनी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। इन गुत्थियों के सुलझाने में आनन्द है, तृप्ति है और है वह अलौकिक फल-लाभ जिससे मनुष्य जीवन स्वर्गीय बन जाता है। रहस्यवाद की रचनाओं की ओर प्रवृत्त होने का उद्देश्य यही है। जो लोग इस तत्व को यथार्थ रीति से समझ कर उसकी ओर अग्रसर होते हैं वे वन्दनीय हैं और उनकी कार्यावली अभिनन्दनीय है। उनका विरोध नहीं किया जा सकता। आधिभौतिक और आध्यात्मिक जितने कार्य-कलाप हैं

उनका यथातथ्य ज्ञान एक प्रकार से असम्भव है। परन्तु उसकी कुछ न कुछ छाया या प्रतिबिम्ब प्रत्येक के हृदय-दर्पण में यथासमय पड़ता रहता है। कहीं यह छाया धुँधली होती है, कहीं उससे स्पष्ट, कहीं अधिकतर स्पष्ट। इसी का वर्णन अनुभूति और मेधा-शक्ति-द्वारा होता आया है और अब भी हो रहा है, और आगे भी होगा। इन अनुभूतियों का प्रकाश वचन-रचना द्वारा करना प्रशंसनीय है, निन्दनीय नहीं, चाहे उसको रहस्यवाद कहा जाय अथवा छायावाद। इसका प्राचीन नाम रहस्यवाद ही है, जिसे अँगरेजी में (mysticism) 'मिस्टिसिज्म' कहते हैं। उसी का साधारण संस्करण छायावाद है। अतएव उस पर अधिक तर्क-वितर्क उचित नहीं, उसके मार्ग को प्रशस्त और सुन्दर बनाना ही अच्छा है।

अब तक मैंने जो निवेदन किया है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि छायावाद के नाम पर जो अनर्गल और बेसिर पैर की रचनाएँ हो रही हैं, मैं उनको प्रश्रय दे रहा हूँ। मेरे कथन का यह प्रयोजन है कि गुण का आदर अवश्य होना चाहिये। अनर्गल प्रलाप कभी अभिनन्दनीय नहीं रहा उसका जीवन क्षणिक होता है, और थोड़े ही समय में अपने आप वह नष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह कि सच्चे समालोचक और सत्समालोचना का कार्य ही क्या है? यही न कि साहित्य से उसकी बुराइयाँ दूर की जायँ और जो भ्रान्त हैं उनको पथ पर लगाया जाय, जो चूके हैं उनको सुधारा जाय और साहित्य में जो कूड़ा-करकट हो उसको निकाल बाहर किया जाय। दोष-गुण सब में हैं, गुण का ग्रहण और दोष का संशोधन एवं परिमार्जन ही वांछनीय है। छायावाद की अनेक रचनाएँ मुझको अत्यन्त प्रिय हैं और मैं उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूं। जिनमें सरस ध्वनि और व्यंजना है उनका आदर कौन सहृदय न करेगा? क्या काँटों के भय से फूल का त्याग किया जायगा। यह भी मैं मुक्त कंठ से कहता हूँ कि छायावादी

कवियों ने खड़ी बोलचाल की कर्कशता और क्लिष्टता को बहुत कम कर दिया है। जैसे प्राचीन खड़ी बोली की रचनाओं का यह गुण है कि उन्होंने भाषा को बहुत परिमार्जित और शुद्ध बना दिया, उसी प्रकार छायावादी कविता का यह गुण है कि उसने कोमल कान्त पदावली ग्रहण कर खड़ी बोलचाल की कविता के उस दोष को दूर कर दिया जो सहृदयजनों को काँटों की तरह खटक रहा था।

संसार में जितनी विद्याएँ हैं, सब नियम-बद्ध हैं। जितनी कलाएँ हैं सब सीखनी पड़ती हैं। उनकी भी रीति और पद्धतियाँ हैं। उनकी उपेक्षा करना विद्या और कला को आघात पहुँचाना है। साहित्य का सम्बन्ध विद्या और कला दोनों से है। इसलिये उसकी जो पद्धतियाँ हैं उनका त्याग नहीं किया जा सकता। उनको परिवर्त्तित रूप में ग्रहण करें अथवा मुख्य रूप में, परन्तु उनके ग्रहण से ही कार्य-सिद्धि-पथ प्रशस्त हो सकता है। साहित्य यदि साध्य है तो नियम उसके साधन हैं। इसलिये उनको अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक प्रतिभा-वान पुरुष नयी उद्भावनाएँ कर सकता है, और ये उद्भावनाएँ भी साधना में गिनी जा सकती हैं। परन्तु उनका उद्देश्य साध्यमूलक होगा, अन्यथा वे उद्भावनाएँ उपयोगिनी न होंगी। गद्य लिखने के लिये छन्द की आवश्यकता नहीं। किन्तु पद्य लिखें और यह कहें कि छन्द प्रणाली व्यर्थ है तो पद्य-रचना हुई कैसे? कुछ नियमित अक्षरों और मात्राओं में जो रचना होती है वही तो पद्य कहलाता है। यह दूसरी बात है कि पद्य की पंक्तियों और अक्षरों की गणना प्रथम उद्भावित छन्दः-प्रणाली से भिन्न हो। किन्तु वह भी है छन्द ही, कोई अन्य वस्तु नहीं। ऐसी अवस्था में छन्द की कुत्सा करना मूल पर ही कुठारा-घात करना है और उसी डाल को काटना है जो उसकी अवलम्बन स्वरूपा है। ऐसी बातें साहित्य के और अंगों के विषय में भी कही जा सकती हैं। हिन्दी साहित्य का जो वर्तमान रूप है वह अनेक प्रति-

भावान पुरुषों की चिन्ताशीलता का ही परिणाम हैं। वह क्रमशः उन्नत होता और सुधरता आया है और नयी-नयी उद्भावनाओं से भी लाभ उठता आया है। अब भी इस विषय में वह बहुत कुछ गौरवित हो सकता है, यदि उसको सुदृष्टि से देखा जाय। चाहिये यही कि उसका मार्ग और सुन्दर बनाया जाय यह नहीं कि उसमें काँटे बिछाये जायँ और उच्छृंखलता को स्वतन्त्रता कह कर उसकी बची-खुची प्रतिष्ठा को भी पद-दलित किया जाये। परमात्मा ने जिसको प्रतिभा दी है, कविता-शक्ति दी है, विद्वत्ता दी है, और प्रदान की है वह मनमोहिनी शक्ति जो हृदयों में सुधाधारा बहाती है, वह अवश्य राका-मयंक के समान चमकेगा और उसकी कीर्ति-कौमुदी से साहित्य-गगन जगमगा उठेगा और वे तारे जो चिरकाल से गगन को सुशोभित करते आये हैं अपने आप उसके सामने मलिन हो जायेंगे। वह क्यों ऐसा सोचे कि आकाश के तारक-चय को ज्योतिर्विहीन बनाकर ही हम विकास प्राप्त कर सकेंगे। हिन्दी-साहित्य की वर्तमान परिस्थिति को देखकर मुझको ये कतिपय पंक्तियाँ लिखनी पड़ीं। मेरा अभिप्राय यह है कि साहित्य-क्षेत्र में जो अवांछनीय-असंयत भाव देखा जा रहा है उसकी ओर हमारी भगवती वीणापाणि के वर पुत्र देखें और वह पथ ग्रहण करें जिसमें सरसता से बहती हुई साहित्य-रस की धारा आविल होने से बचे और उनके 'छायावाद' की रचनाओं को वह महत्व प्राप्त हो जो वांछनीय है।

यह देखा जाता है कि आजकल युवक-दल अधिकतर छायावाद की रचनाओं की ओर आकर्षित है। युवक-दल ही समाज का नेता है। वही भविष्य को बनाता है और सफलता की कुंजी उसी के हाथ में होती है। उसके छायावाद की ओर खिंच जाने से उसका भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, किन्तु उसको यह विचारना होगा कि क्या हिन्दी भाषा के चिर-संचित भांडार को ध्वंस कर और उस भाण्डार के धन के संचय करनेवालों की कीर्त्ति को लोप कर ही यह उज्ज्वलता प्राप्त

होगी ? इतिहास यह नहीं बतलाता। जो रत्न हमारी सफलता का सम्बल है, उसको फेंक कर हमारी इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। भविष्य बनाने के लिए वर्तमान आवश्यक है, परन्तु भूत पर भी दृष्टि होनी चाहिये। हम योग्य न हों और योग्य बनने का दावा करें, हमारा ज्ञान अधूरा हो और हम बहुत बड़े ज्ञानी होने की डींग हाँकें, हम कवि-पुंगव होने का गर्व करें और साधारण कवि होने की भी योग्यता न रखें, छायावाद की कविता लिखें और यह जाने भी नहीं कि कविता किसे कहते हैं, धूल उड़ायें प्राचीन कविवरों की और करने बैठें कवि-कर्म की मिट्टी पलीद; तो बताइये हमारी क्या दशा होगी ? हम स्वयं तो मुँह की खायेंगे ही, छायावाद की आँखें भी नीची करेंगे। आजकल छायावाद के नाम पर कुछ उत्साही युवक ऐसी ही लीला कर रहे हैं। मेरी उनसे यह प्रार्थना है कि यदि उनमें छायावाद का सच्चा अनुराग है तो अपने हृदय में वे उस ज्योति की छाया पड़ने दें, जिससे उनका मुख उज्ज्वल हो और 'छायावाद' का सुन्दर कविता-क्षेत्र उद्भासित हो उठे। मेरा विचार है कि छायावाद कविता-प्रणाली का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। जैसे पावस का तमोमय पंकिल काल व्यतीत होने पर ज्योतिर्मय स्वच्छ शरद ऋतु का विकास होता है वैसे ही जो न्यूनताएँ 'छायावाद' के क्षेत्र में इस समय विद्यमान हैं वे दूर होंगी और वह वांछनीय पूर्णता को प्राप्त होगी। किन्तु यह तभी होगा जब युवक-दल अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए भगवती वीणापाणि की सच्ची आराधना के लिए कटिबद्ध होगा।

किसी किसी छायावादी कवि का यह विचार है कि जो कुछ तत्व है वह छायावाद की कविता में ही है। कविता-सम्बन्धी और जितने विभाग हैं वे तुच्छ ही नहीं, तुच्छातितुच्छ हैं और उनमें कोई सार नहीं। अपना विचार प्रकट करने का अधिकार सबको है, किन्तु विचार प्रकट करने के समय तथ्य को हाथ से न जाने देना चाहिये। जो

छायावाद के अथवा रहस्यवाद के आचार्य कहे जाते हैं, क्या उन्होंने आजीवन रहस्यवाद की ही रचना की ? प्राचीन कवियों में ही हम प्रसिद्ध रहस्यवादी कबीर और जायसी को ले-लें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि सौ पद्यों में यदि दस पाँच रचनाएँ उनकी रहस्यवाद की हैं, तो शेष रचनाएँ अन्य विषयों की। क्या उनकी ये रचनाएँ निन्दनीय, अनुपयुक्त तथा अनुपयोगी हैं ? नहीं, उपयोगी हैं और अपने स्थान पर उतनी ही अभिनन्दनीय हैं जितनी रहस्यवाद की रचनाएँ। एकदेशीय ज्ञान अपूर्ण होता है और एकदेशीय विचार अव्यापक। जैसे शरीर के सब अंगों का उपयोग अपने अपने स्थानों पर है, जैसे किसी हरे वृक्ष का प्रत्येक अंश उसके जीवन का साधन है, उसी प्रकार साहित्य तभी पुष्ट होता है जब उसमें सब प्रकार की रचनाएँ पायी जाती हैं, क्योंकि उन सबका उपयोग यथास्थान होता है। जो कविता आन्तरिक प्रेरणा से लिखी जाती है, जिसमें हृतंत्री की झंकार मिलती है, भावोच्छ्वास का विकास पाया जाता है। जिसमें सहृदयता है, सुन्दर कल्पना है, प्रतिभा तरंगायित है, जिसका वाच्यार्थ स्पष्ट है, सरल है, सुबोध है, वही सच्ची कविता है, चाहे जिस विषय पर लिखी गयी हो और चाहे जिस भाषा में हो। कौन उसका सम्मान न करेगा और कहाँ वह आदृत न होगी ? कवि हृदय को उदार होना चाहिये, वृथा पक्षपात और खींच-तान में पड़ कर उसको अपनी उदात्त वृत्ति को संकुचित न करना चाहिये। मेरा कथन इतना ही है कि एकदेशीय विचार अच्छा नहीं, उसको व्यापक होना चाहिये। किसी फूल में रंग होता है, किसी की गठन अच्छी होती है, किसी का विकास सुन्दर होता है, किसी में सुगंधि पायी जाती है—सब बात सब फूलों में नहीं मिलती। कोई ही फूल ऐसा होता है जिसमें सब गुण पाये जाते हैं। जिस फूल में सब गुण हैं, यह कौन न कहेगा कि वह विशेष आदरणीय है। परन्तु अन्यों का भी कुछ स्थान है और उपयोग भी। इसीलिए जिसमें जो विशे-

षता है वह स्वीकार-योग्य है, उपेक्षणीय नहीं। कला का आदर कला की दृष्टि में होना चाहिये। यदि उसमें उपयोगिता मिल जाय तो क्या कहना। तब उसमें सोना और सुगंधवाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

कवि-कर्म का विशेष गुण वाच्यार्थ की स्पष्टता है। प्रसाद गुणमयी कविता ही उत्तम समझी जाती है। वैदर्भी वृत्ति का ही गुणगान अब तक होता आया है। किन्तु यह देखा जाता है कि छायावादी कुछ कवि इसकी उपेक्षा करते हैं और जान बूझ कर अपनी रचनाओं को जटिल से जटिल बनाये हैं, केवल इस विचार से कि लोग उसको पढ़ कर यह समझें कि उनकी कविता में कोई गूढ़ तत्व निहित है। और इस प्रकार उनको उच्च कोटि का रहस्यवादी कवि होने का गौरव प्राप्त हो। ऐसा इस कारण से भी होता है कि किसी किसी का भावोच्छ्वास उनको उस प्रकार की रचना करने के लिए बाध्य करता है। वे अपने विचारानुसार उसको बोधगम्य ही समझते हैं, पर भाव-प्रकाशन में अस्पष्टता रह जाने के कारण उनकी रचना जटिल बन जाती है। कवि-कर्म की दृष्टि से यह दोष है। इससे बचना चाहिये। यह सच है कि गूढ़ता भी कविता का एक अंग है। गम्भीर विषयों का वर्णन करने में या अज्ञेयवाद की ओर आकर्षित होकर अनुभूत अंशों के निरूपण करने में गूढ़ता अवश्य आ जाती है किन्तु उसको बोधगम्य अवश्य होना चाहिये। यह नहीं कि कवि स्वयं अपनी कविता का अर्थ करने में असमर्थ हो। वर्तमान काल की अनेक छायावादी कविताएँ ऐसी हैं कि जिनका अर्थ करना यदि असंभव नहीं तो बहुकष्ट साध्य अवश्य है। मेरा विचार है, इससे छायावाद का पथ प्रशस्त होने में स्थान पर अप्रशस्त होता जाता है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कविता में कुछ ऐसी गिरह होनी चाहिये जिसके खोलने की नौबत आये। जो कविता बिल्कुल खुली होती है उसमें वह आनन्द नहीं प्राप्त होता, जो गिरह

वाली कविता की गुत्थी सुलझाने पर मिलता है। किन्तु यह गिरह या गाँठ दिल की गाँठ न हो जिसमें रस का प्रभाव होता है। सुनिये एक सुकवि क्या कहता है:—

सम्मन रस की खान, सो हम देखा ऊख में।
ताहू में एक हानि, जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं।

कविता यदि द्राक्षा न बन सके तो रसाल ही बनें, नारिकेल कदापि नहीं। साहित्य-मर्मज्ञों की यही सम्मति है। किसी-किसी का यह कथन है कि भावावेश कितनों को दुरूहतर कविता करने के लिए बाध्य करता है। मेरा निवेदन यह है कि यह भावावेश किस काम का जो कविता के भाव को अभाव में परिणत कर दे। भावुकता और सहृदयता की सार्थकता तभी है जब वह असहृदय को भी सहृदय बना ले। जिसने सहृदय को असहृदय बना दिया वह भावुकता और सहृदयता क्या है इसे सहृदय जन ही समझें।

छायावाद की कविताएँ व्यंजना और ध्वनि-प्रधान होती हैं। वाच्यार्थ से जहाँ व्यंजना प्रधान हो जाती है वही ध्वनि कहलाती है। छायावाद की कविता में इसकी अधिकता मिलती है। इसीलिये वह अधिक हृदय-ग्राहिणी हो जाती है। छायावादी कवि किसी बात को बिलकुल खोल कर नहीं कहना चाहते। वे उसको इस प्रकार से कहते हैं जिससे उसमें एक ऐसी युक्ति पायी जाती है जो हृदय को अपनी ओर खींच लेती है। वे जिस विषय का वर्णन करते हैं उसके ऊपरी बातों का वर्णन करके ही तुष्ट नहीं होते। वे उसके भीतर घुसते हैं और उससे सम्बन्ध रखनेवाली तात्विक बातों को इस सुंदरता से अंकित करते हैं जिससे उनकी रचना मुग्धकारिणी बन जाती है। वे अपनी आन्तरिक वृत्तियों को कभी साकार मानकर उनकी बातें एक नायक-नायिका की भाँति कहते हैं, कभी सांसारिक दृश्य पदार्थों को लेकर उसमें कल्पना का विस्तार करते हैं और उसको किसी देव-दुर्लभ

वस्तु अथवा किसी व्यक्ति-विशेष के समान अंकित करते हैं। कभी वे अपनी ही सत्ता को प्रत्येक पदार्थ में देखते हैं और उसके आधार से अपने समस्त आन्तरिक उद्गारों को प्रकट करते हैं। उनकी वेदनाएँ तड़पती हैं, रोती कलपती हैं, कभी मूर्तिमयी आह बन जाती हैं और कभी जलधरों के समान अजस्र अश्रु विसर्जन करने लगती हैं। उनकी नीरवता में राग है, उनके अन्धकार में अलौकिक आलोक और उनकी निराशा में अद्भुत आशा का संचार। वे ससीम में असीम को देखते हैं, विन्दु में समुद्र की कल्पना करते हैं, और आकाश में उड़ने के लिए अपने विचारों को पर लगा देते हैं। आलोकमयी रजनी को कलित कौमुदी की साड़ी पहिना कर और तारकावली की मुक्तामाला से सुसज्जित कर, जब उसे चन्द्रमुख से सुधा बरसाते हुए वे किसी लोकरंजन की ओर गमन करते अंकित करते हैं, तो उसमें एक लोक-रंजिनी नायिका-सम्बन्धिनी समस्त लीलाओं और कलाओं की कल्पना कर देते हैं, और इस प्रकार अपनी रचनाओं को लालित्यमय बना देते हैं। उनकी प्रतिभा विश्वजनीन भावों की ओर कभी मन्थर गति से, कभी बड़े वेग से गमन करती है और उनके समागम से ऐसा रस सृजन करती है, जो अनेक रसिकों के हृदय में मन्द-मन्द प्रवाहित होकर उसे स्वर्गीय सुख का आस्वादन कराती है। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि उनकी रचना अधिकतर भाव प्रधान होती है, भाव प्रधान (Subjective) होती है, वस्तु प्रधान (objective) नहीं। इसीसे उसमें सरसता, मधुरता, और मनमोहकता होती है। मैंने उनके लक्ष्य की ही बात कही है। मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि छायावाद के नाम पर जितने कविता करनेवाले हैं, उनको इस लक्ष्य की ओर गमन करने में पूरी सफलता मिलती है। छायावाद के कुछ प्रसिद्ध कवि ही इस लक्ष्य को सामने रखकर अपनी रचना को तदनुकूल बनाने में कुछ सफल हो सके हैं। अन्यों के लिए अबतक वह वैसा ही है जैसा किसी वामन का चन्द्रमा को छूना। किन्तु इस ओर अधिक प्रवृत्ति होने से इन्हीं में से ऐसे लोग उत्पन्न होंगे जो वास्तव

में अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होंगे। अभ्यास की आदिम व्यवस्था ऐसी ही होती है किन्तु असफलता ही सफलता की कुञ्जी है। एक बात यह अवश्य देखी जाती है कि छायावाद के अधिकांश कवियों की दृष्टि न तो अपने देश की ओर है, न अपनी जाति और समाज की ओर। हिन्दू जाति आज दिन किस चहले में फँसी है, वे आँख से उसको देख रहे हैं पर उनकी सहानुभूति उसके साथ नहीं है। इसको दुर्भाग्य छोड़ और क्या कहें। जिसका प्रेम विश्व-जनीन है वह अपने देश के, जाति के, परिवार के, कुटुम्ब के दुख से दुखी नहीं, इसको विधि-विडम्बना छोड़ और क्या कहें? शृंगारिक कवियों की कुत्सा करने में जिनकी लेखनी सहस्रमुखी बन जाती है, उनमें इतनी आत्मविस्मृति क्यों है? इसको वे ही सोचें। यदि शृंगार-रस में निमग्न होकर उन्होंने देश को रसातल पहुँचाया तो विश्वजनीन प्रेम का प्रेमिक उनको संजीवनी सुधा पिलाकर स्वर्गीय सुख का अधिकारी क्यों नहीं बनाता? जिस देश, जाति और धर्म की ओर उनकी इतनी उपेक्षा है, उनको स्मरण रखना चाहिये कि वह देश जाति और धर्म ही इस विश्वजननीन महामंत्र का अधिष्ठाता, स्रष्टा और ऋषि है। जो कवीन्द्र रवीन्द्र उसके आचार्य्य और पथप्रदर्शक हैं, उन्हीं का पदानुसरण क्यों नहीं किया जाता? कम-से-कम यदि उन्हीं का मार्ग ग्रहण किया जाय तो भी निराशा में आशा की झलक दृष्टिगत हो सकती है। यदि स्वदेश-प्रेम संकीर्णता है तो विश्व-जनीन-प्रेम की दृष्टि से ही अपने देश को क्यों नहीं देखा जाता। विश्व के अन्तर्गत वह भी तो है। यदि संसार भर के मनुष्य प्रेम-पात्र हैं तो भरत-कुमार स्नेह भाजन क्यों नहीं? क्या उनकी गणना विश्व के प्राणियों में नहीं है? यदि सत्य का प्रकार किया जा रहा है, प्रेम की दीक्षा दी जा रही है, विश्व-बन्धुत्व का राग अलापा जा रहा है, तो क्या भारतीय जन उनके अधिकारी नहीं। जो अपना है, जिस पर दावा होता है उसी को उपा-लम्भ दिया जाता है। जिससे आशा होती है, उसी का मुँह ताका जाता है। मैंने जो कुछ यहाँ लिखा है वह ममतावश होकर, मत्सर से नहीं।

मैंने इसकी चर्चा यहाँ इसलिए की कि यदि छायावाद की रचना ही सर्वेसर्वा है, तो इसमें इन भावों का सन्निवेश भी पर्य्याप्त मात्रा में होना चाहिये, अन्यथा हिन्दी-साहित्यक्षेत्र में एक ऐसी न्यूनता हो जायेगी, जो युवकों के एक उल्लेख-योग्य दल को भ्रान्त ही नहीं बनायेगी, देश के समुन्नति-पथ में भी कुसुम के बहाने वे काँटे बिछायेगी जो भारतीय-हित-प्रेमिक पथिकों के लिए अनेक असमंजसों के हेतु होंगे। मैंने जो विचार एक सदुद्देश्य से यहाँ प्रकट किये हैं यदि कार्यतः उनको भ्रान्त सिद्ध कर दिया जायेगा तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा।

कबीर साहब

कबीर साहब की रचनाओं के विषय में अनेक तर्क-वितर्क हैं। उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें बड़ी विभिन्नता है। इस विभिन्नता का कारण यह है कि वे स्वयं लिखे-पढ़े न थे। इसलिए अपने हाथ से वे अपनी रचनाओं को न लिख सके। अन्य के हाथों में पड़कर उनकी रचनाओं का अनेक रूपों में परिणत होना स्वाभाविक था। आजकल जितनी रचनाएँ उनके नाम से उपलब्ध होती हैं, उनमें मीन-मेष है। कहा जाता है कि सत्यलोक पधार जाने के बाद उनकी रचनाओं में लोगों ने मनगढ़न्त बहुत सी रचनाएँ मिला दी हैं और इसी सूत्र से उनकी रचना की भाषा में विभिन्नता दृष्टिगत होती है। ऐसी अवस्था में उनकी रचनाओं को उपस्थित कर इस बात की मीमांसा करना कि पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दी का क्या रूप था, दुस्तर है। मैं पहले लिख आया हूँ कि भ्रमणशील सन्तों की बानियों में भाषा की एकरूपता नहीं पायी जाती। कारण यह है कि नाना प्रदेशों में भ्रमण करने के कारण उनकी भाषा में अनेक प्रान्तिक शब्द मिले पाये जाते हैं। कबीर साहब की रचना में अधिकतर इस तरह की बातें मिलती हैं। इन सब उलझनों के होने पर भी कबीर साहब की रचनाओं की चर्चा इसलिए आवश्यक ज्ञात होती

है कि वे इस काल के एक प्रसिद्ध सन्त हैं और उनकी बानियों का प्रभाव बहुत ही व्यापक बतलाया गया है। कबीर साहब की रचनाओं में रहस्य-वाद भी पाया जाता है जिसको अधिकांश लोग उनके चमत्कारों से सम्बन्धित करते हैं और यह कहते हैं कि ऐसी रचनाएँ उनका निजस्व हैं जो हिन्दी संसार की किसी कवि की कृति में नहीं पायी जातीं। इस सूत्र से भी कबीर साहब की रचनाओं के विषय में कुछ लिखना उचित ज्ञात होता है, क्योंकि यह निश्चित करना है कि इस कथन में कितनी सत्यता है। विचारना यह है कि क्या वास्तव में रहस्यवाद कबीर साहब की उपज है या इसका भी कोई आधार है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कबीर-ग्रंथावली' नामक एक ग्रंथ कुछ वर्ष हुए, एक प्राचीन ग्रंथ के आधार से प्रकाशित किया है। यह प्राचीन ग्रंथ सम्वत् १५६१ का लिखा हुआ है और अब तक उक्त सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। जो ग्रन्थ सभा से प्रकाशित हुआ है उससे कुछ पद्य नीचे इसलिए उद्धृत किये जाते हैं, जिसमें उनकी रचना की भाषा के विषय में कुछ विचार किया जा सके:—

१—षूणैं पराया न छुटियो, सुणिरे जीव अबूझ।
कविरा मरि मैदान मैं इन्द्रयांसूं जूझ॥
२—गगन दमामा बाजिया पड्या निसाणै घाव।
खेत बुहाख्या सूरिवाँ मुझ मरने का चाव॥
३—जाइ पूछौ उस घाइलैं दिवस पीड़ निस जाग।
बाहण हारा जाणि है कै जाणै जिस लाग॥

४—अवधू कामधेनु गहि बाँधी रे।
भाँड़ा भंजन करै सबहिन का कछू न सूझै आँधी रे।

जो ब्यावै तो दूध न देई ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीदरि चालै ज्यूँ घेरौं त्यूँ दरवै।
तिहीं धेन थैं इच्छया पूगी पाकड़ि खूँटै बाँधी रे।
ग्वाड़ा माँ है आनँद उपनो खूँटै दोऊ बाँधी रे।
साँई माइ सास पुनि साइँ साइँ याकी नारी।
कहै कबीर परम पद पाया संतो लेहु बिचारी।

कबीर साहब ने स्वयं कहा है 'बोली मेरी पुरुब की' जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी रचना पूर्वी हिन्दी में हुई है और इन कारणों से यह बात पुष्ट होती है कि वे पूर्व के रहनेवाले थे और उनकी जन्मभूमि काशी थी। काशी और उसके आस-पास के जिलों में भोजपुरी और अवधी भाषा ही अधिकतर बोली जाती है। इसलिए उनकी भाषा का पूर्वी भाषा होना निश्चित है और ऐसी अवस्था में उनकी रच-नाओं को पूर्वी भाषा में ही होना चाहिये। यह सत्य है कि उन्होंने बहुत अधिक देशाटन किया था और इससे उनकी भाषा पर दूसरे प्रान्तों की कुछ बोलियों का भी थोड़ा बहुत प्रभाव हो सकता है। किन्तु इससे उनकी मुख्य भाषा में इतना अन्तर नहीं पड़ सकता कि वह बिल्कुल अन्य प्रान्तों की भाषा बन जाय। सभा द्वारा जो पुस्तक प्रकाशित हुई है उसकी भाषा ऐसी ही है जो पूर्व की भाषा नहीं कही जा सकती। उसमें पंजाबी और राजस्थानी भाषा का पुट अधिकतर पाया जाता है। ऊपर के पद्य इसके प्रमाण है। कुछ लोगों का विचार है कि कबीर साहब के इस कथन का कि 'बोली मेरी पुरुष की', यह अर्थ है कि मेरी भाषा पूर्व काल की है, अर्थात् सृष्टि के आदि की। किन्तु यह कथन कहाँ तक संगत है, इसको विद्वज्जन स्वयं समझ सकते हैं। सृष्टि के आदि की बोली से यदि यह प्रयोजन है कि उनकी शिक्षाएँ आदिम हैं तो भी वह स्वीकार-योग्य नहीं, क्योंकि उनकी जितनी शिक्षाएँ हैं उन सब में परम्परागत

विचार की ही झलक है। यदि सृष्टि की आदि की बोली का यह भाव है कि उस काल की भाषा में कबीर साहब की रचनाएँ हैं, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जिस भाषा में उनकी रचनाएँ हैं, वह कई सहस्र वर्षों के विकास और परिवर्तनों का परिणाम है। इसलिए यह कथन मान्य नहीं। वास्तव बात यह है कि कबीर साहब की रचनाएँ पूर्व की बोली में ही हैं और यही उनके उक्त कथन का भाव है। अधिकांश रचनाएँ उनकी ऐसी ही हैं भी। सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के पहले उनकी जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं या हस्तलिखित मिलती हैं, या जन-साधारण में प्रचलित हैं उन सब की भाषा अधिकांश पूर्वी ही है। हाँ, सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ का कुछ अंश अवश्य इस विचार का बाधक है। परन्तु मैं यह सोचता हूँ कि जिस प्राचीन-लिखित ग्रन्थ के आधार से सभा की पुस्तक प्रकाशित हुई है उसके लेखक के प्रसाद ही से कबीर साहब की कुछ रचनाओं की भाषा में विशेष कर बहुसंख्यक दोहों में उल्लेख-योग्य अन्तर पड़ गया है। प्रायः लेखक जिस प्रान्त का होता है अपने संस्कार के अनुसार वह लेख्यमान ग्रन्थ की भाषा में अवश्य कुछ न कुछ अन्तर डाल देता है। यही इस ग्रन्थ-लेखन के समय भी हुआ ज्ञात होता है अन्यथा कबीर साहब की भाषा का इतना रूपान्तर न होता।

मैं कबीर साहब की भाषा के विषय में विचार उन्हीं रचनाओं के आधार पर करूँगा जो सैकड़ों वर्ष से मुख्य रूप में उनके प्रसिद्ध धर्म स्थानों में पायी जाती हैं, अथवा सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब में संगृहीत मिलती हैं। यह ग्रन्थ सत्रवहीं ईस्वी शताब्दी में श्री गुरु अर्जुन द्वारा संकलित किया गया है। इसलिए इसकी प्रामाणिकता विश्वसनीय है। कुछ ऐसी रचनाएँ देखियेः—

१—गंगा के संग सरिता बिगरी,
सो सरिता गंगा होइ निबरी।

बिगरेउ कबीरा राम दोहाई,
साचु भयो अन कतहिं न जाई।
चन्दन के सँग तरवर बिगरेउ,
सो तरुवरु चन्दन होइ निबरेउ।
पारस के सँग ताँबा बिगरेउ,
सो ताँबा कंचन होइ निबरेउ।
संतन संग कबीरा बिगरेउ,
सो कबीर रामै होइ निबरेउ।

२—सभु कोइ चलन कहत हैं ऊहाँ,
ना जानौं बैकुण्ठु है कहाँ।
आप आप का मरम न जाना,
बात नहीं बैकुण्ठ बखाना।
जब लगु मन बैकुण्ठ की आस,
तब लग नाहीं चरन निवास।
खाइं कोटु न परल पगारा,
ना जानउँ बैकुण्ठ दुवारा।
कह कबीर अब कहिये काहि,
साधु संगति बैकुण्ठै आहि।

सभा की प्रकाशित ग्रंथावली में भी इस प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। मैं यहाँ यह भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब में कबीर साहब की जितनी रचनाएँ संगृहीत हैं वे सब उक्त ग्रन्थावली में ले ली गयी हैं। उनमें वैसा परिवर्तन नहीं पाया जाता है जैसा सभा के सुरक्षित ग्रन्थ की रचनाओं में मिलता है। मैं यह भी कहूँगा कि उक्त सुरक्षित ग्रन्थ की पदावली उतनी परिवर्तित नहीं है जितने दोहे। अधिकांश पदावली में कबीर साहब की रचना का वही

रूप मिलता है जैसा सिक्खों के आदि ग्रंथ साहब में पाया जाता है। मैं इसी पदावली में से दो पद्य नीचे लिखता हूँ :—

१—हम न मरैं, मरिहै संसारा,
हमकूं मिल्या जियावन हारा।
अब न मरौं, मरनै मन माना,
तेइ मुए जिन राम न जाना।
साकत मरै संत जन जीवै,
भरि भरि राम रमायन पीवै।
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं,
हरि न मरैं, हम काहे कूँ मरि हैं।
कहै कबीर मन मनहिं मिलावा,
अमर भये सुखसागर पावा।

२—काहे रे मन दह दिसि धावै,
विषया सँगि संतोष न पावै।
जहाँ-जहाँ कलपै तहाँ-तहाँ बंधना,
रतन को थाल कियो तै रंधना।
जो पै सुख पइयत मन माहीं,
तौ राज छाड़ि कत बन को जाहीं।
आनन्द सहत तजौ विष नारी,
अब क्या झीषै पतित भिषारी।
कह कबीर यहु सुख दिन चारि,
तजि विषया भजि चरन मुरारि।

मेरा विचार है कि जो पद्य मैंने ग्रन्थ साहब से उद्धृत किये हैं और जो पद्य कबीर ग्रन्थावली से लिये हैं उनकी भाषा एक है, और मैं कबीर साहब की वास्तविक भाषा में लिखा गया इन पद्यों को ही समझता हूँ। वास्तव

बात यह है कि कबीर ग्रन्थावली की अधिकांश रचनाएँ इसी भाषा की हैं। उसके अधिकतर पद ऐसी ही भाषा में लिखे पाए जाते हैं। बहुत से दोहों की भाषा का रूप भी यही है। इसलिए मुझे यह कहना पड़ता है कि कबीर साहब की रचनाएँ पन्द्रहवीं शताब्दी के अनुकूल हैं। आप देखते आये हैं कि क्रमशः हिन्दी भाषा परिमार्जित होती आयी है। जैसा उसका परिमार्जित रूप पन्द्रहवीं शताब्दी की अन्य रचनाओं में मिलता है; वैसा हीं कबीर साहब की रचनाओं में भी पाया जाता है। इसलिए मुझे यह कहना पड़ता है कि उनकी रचनाएँ पन्द्रहवीं शताब्दी के भाषाजनित परिवर्त्तन सम्बन्धी नियमों से मुक्त नहीं हैं, वरन् क्रमिक परिवर्त्तन की प्रमाण भूत हैं। हाँ, उनमें कहीं-कहीं प्रान्तिकता अवश्य पायी जाती है और पश्चिमी हिन्दी से पूर्वी हिन्दी का प्रभाव उनकी रचना पर अधिक देखा जाता है। किन्तु यह आश्चर्य-जनक नहीं। क्योंकि भाषा में कविता करने का सूत्रपात विद्यापति के समय में ही हुआ था जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

मैं यह स्वीकार करूँगा कि कबीर साहब की रचनाओं में पंजाबी और राजस्थानी भाषा के कुछ शब्दों, क्रियाओं और कारकों का प्रयोग मिल जाता है। किन्तु, उसका कारण उनका विस्तृत देशाटन है जैसा मैं पहले कह भी चुका हूं। अपनी मुख्य भाषा में इस प्रकार के कुछ शब्दों का प्रयोग करते सभी संत कवियों को देखा जाता है और यह इतना असंगत नहीं जितना अन्य भाषा के शब्दों का उतना प्रयोग जो कवि की मुख्य भाषा के वास्तविक रूप को संदिग्ध बना देता है। मैंने कबीर ग्रंथावली से जो पद और दोहे पहले उठाये हैं उनकी भाषा ऐसी है जो कबीर साहब की मुख्य भाषा की मुख्यता का लोप कर देती है। इसीलिए मैं उनको शुद्ध रूप में लिखा गया नहीं समझता। परन्तु उनकी जो ऐसी रचनाएँ हैं जिसमें उनका मुख्य रूप सुरक्षित

है और कतिपय शब्द मात्र अन्य भाषा के आ गये हैं उन्हें मैं उन्हीं की रचना मानता हूं और समझता हूँ कि वे किसी अल्पज्ञ लेखक की अनधिकार चेष्टा से सुरक्षित हैं। उनके इस प्रकार के कुछ पद्य भी देखिये:—

१—दाता तरवर दया फल, उपकारी जीवन्त।
पंछी चले *दिसावरां बिरखा* सुफल फलन्त।
२—कबीर संगत साधु की कदे न निरफल होय।
चंदन *होसी* बावना नीम न *कहसी* कोय।
३—कायथ कागद *काढ़िया* लेखै वार न पार।
जब लग साँस सरीर में तब लग राम सँभार।
४—हरजी यहै *बिचारिया,* साखी कहै कबीर।
भवसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर।
५—ऐसी *बाणी* बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ।

इन पद्यों में कुछ शब्द पंजाबी या राजस्थानी हैं। इस प्रकार का प्रयोग कबीर साहब की रचनाओं में प्राय: मिलता है। ऐसे आकस्मिक प्रयोग उनकी मुख्य भाषा को संदिग्ध नहीं बनाते, क्योंकि जिस पद्य में किसी भाषा का मुख्य रूप सुरक्षित रहता है उस पद्य में आये हुए अन्य भाषा के दो एक शब्द एक प्रकार से उसी भाषा के अंग बन जाते हैं। अवधी अथवा ब्रजभाषा में 'वाणी' को 'बानी' ही लिखा जाता है, क्योंकि इन दोनों भाषाओं में 'ण' का अभाव है। पंजाब प्रान्त के लेखक प्राय: 'न' के स्थान पर 'ण' प्रयोग कर देते हैं, क्योंकि उस प्रान्त में प्राय: नकार णकार हो जाता है। वे 'बानी' को 'बाणी 'आसन' को 'आसण' 'पवन' को 'पवण' इत्यादि हीं बोलते और लिखते हैं। ऐसी अवस्था में यदि कबीर साहब के

पद्यों में आये हुए नकार पंजाब के लेखकों की लेखनी द्वारा णकार बन जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। आदि ग्रन्थ साहब में भी देखा जाता है कि प्रायः कबीर साहब की रचनाओं के नकार ने णकार का स्वरूप ग्रहण कर लिया है, यद्यपि इस विशाल ग्रन्थ में उनकी भाषा अधिकतर सुरक्षित है। इस प्रकार के साधारण परिवर्तन का भी मुख्य भाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए कबीर साहब की रचनाओं में जहाँ ऐसा परिवर्तन दृष्टिगत हो उसके विषय में यह न मान लेना चाहिये कि जो शब्द हिन्दी रूप में लिखा जा सकता था उसको उन्होंने ही पंजाबी रूप दे दिया है, वरन् सच तो यह है कि उस परिवर्तन में पंजाबी लेखक की लेखनी की लीला ही दृष्टिगत होती है।

कबीर साहब कवि नहीं थे। वे भारत की जनता के सामने एक पीर के रूप में आये। उनके प्रधान शिष्य धर्मदास कहते हैं—

आठवीं आरती पीर कहाये। मगहर अमी नदी बहाये।

मलूकदास कहते हैं:—

तजि कासी मगहर गये दोऊ दीन के पीर *

झाँसी के शेख़ तक़ी ऊँजी और जौनपुर के पीर लोग जो काम उस समय मुसलमान धर्म के प्रचार के लिये कर रहे थे, काशी में कबीर साहब लगभग वैसे ही कार्य में निरत थे। अन्तर केवल इतना ही था कि वे लोग हिन्दुओं को नाना रूप से मुसलमान धर्म में दीक्षित कर रहे थे और कबीर साहब एक नवीन धर्म की रचना करके हिन्दू-मुसलमान को एक करने के लिए उद्योगशील थे। ठीक इसी समय यही कार्य बंगाल में हुसेन शाह कर रहे थे जो एक मुसलमान पीर थे और जिसने अपने नवीन धर्म का नाम सत्य पीर रख लिया था। कबीर साहब के समान

---

* हिन्दुस्तानी, अक्टूबर सन् १९३२, पृ० ४२१।

वह भी हिन्दू मुसलमानों के एकीकरण में लग्न थे। उस समय भारतवर्ष में इन पीरों की बड़ी प्रतिष्ठा थी और वे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। गुरु नानकदेव ने भी इन पीरों का नाम अपने इस वाक्य में, 'सुणिये सिद्ध-पीर सुरिनाथ', आदर से लिया है। जो पद उन्होंने सिद्ध, नाथ और सूरि को दिया है वही पीर को भी। पहले आप पढ़ आये हैं कि उस समय सिद्धों का कितना महत्व और प्रभाव था। नाथों का महत्व भी गुरु गोरखनाथजी की चर्चा में प्रकट हो चुका है। सूरि जैनियों के आचार्य कहलाते हैं और उस समय दक्षिण में उनकी महत्ता भी कम नहीं थी। इन लोगों के साथ गुरु नानक देव ने जो पीर का नाम लिया है, इसके द्वारा उस समय इनकी कितनी महत्ता थी यह बात भली भाँति प्रकट होती है। इस पीर नाम का सामना करने ही के लिए हिन्दू आचार्य उस समय गुरु नाम धारण करने लग गये थे। इसका सूत्रपात गुरु गोरखनाथजी ने किया था। गुरु नानकदेव के इस वाक्य में 'गुरु ईसर गुरु गोरख बरम्हा गुरु पारवती माई' इसका संकेत है। गुरु नानक के सम्प्रदाय के आचार्यों के नाम के साथ जो गुरु शब्द का प्रयोग होता है उसका उद्देश्य भी यही है। वास्तव में उस समय के हिन्दू आचार्यों को हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए अनेक मार्ग ग्रहण करने पड़े थे। क्योंकि बिना इसके न तो हिन्दू धर्म सुरक्षित रह सकता था, न पीरों के सम्मुख उनको सफलता प्राप्त हो सकती थी क्योंकि वे राजधर्म के प्रचारक थे। कबीर साहब की प्रतिभा विलक्षण थी और बुद्धि बड़ी ही प्रखर। उन्होंने इस बात को समझ लिया था। अतएव उन दोनों से भिन्न तीसरा मार्ग ग्रहण किया था। परन्तु कार्य उन्होंने वही किया जो उस समय मुसलमान पीर कर रहे थे अर्थात् हिन्दुओं को किसी प्रकार हिन्दू धर्म से अलग करके अपने नव प्रवर्तित धर्म में आकर्षित कर लेना उनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य-सिद्धि के लिए उन्होंने अपने को ईश्वर का दूत बतलाया और अपने ही मुख से अपने

महत्व की घोषणा बड़ी ही सबल भाषा में की। निम्नलिखित पद्य इसके प्रमाण हैं :—

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये।
समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये॥

—कबीर शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ७१

सोरह संख्य के आगे समरथ जिन जग मोहि पठाया।

—कबीर बीजक पृ० २०

तेहि पीछे हम आइया सत्य शब्द के हेत।
कहते मोहिं भयल युग चारी।
समझत नाहिं मोहि सुत नारी।
कह कबीर हम युग युग कही।
जबहीं चेतो तबहीं सही।

कबीर बीजक पृ० १२५, ५६२

जो कोई होय सत्य का किनका सो हमको पतिआई।
और न मिलै कोटि करि थाकै बहुरि काल घर जाई।

कबीर बीजक पृ० २०

जम्बू द्वीप के तुम सब हंसा गहिलो शब्द हमार।
दास कबीरा अबकी दीहल निरगुन के टकसार।
जहिया किरतिम ना हता धरती हता न नीर।
उतपति परलै ना हती तबकी कही कबीर।
ई जग तो जँहड़े गया भया योग ना भोग।
तिल-तिल झारि कबीर लिय तिलठी झारै लोग।

कबीर बीजक पृ० ८०, ५६८, ६३२

सुर नर मुनि जन औलिया, यह सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर।

साखी संग्रह पृ० १२५

वे अपनी महत्ता बतला कर ही मौन नहीं हुए वरन् उन्होंने हिन्दुओं के समस्त धार्मिक ग्रन्थों और देवताओं की बहुत बड़ी कुत्सा भी की। इस प्रकार के उनके कुछ पद्य प्रमाण-स्वरूप नीचे लिखे जाते हैं—

योग यज्ञ जप संयमा तीरथ व्रतदाना।
नवधा वेद किताब है झूठे का बाना।

कबीर बीजक पृ० ४११

चार वेद षट् शास्त्रऊ औ दश अष्ट पुरान।
आसा दै जग बाँधिया तीनों लोक भुलान।

कबीर बीजक पृ० १४

औ भूले षट दर्शन भाई। पाखंड भेष रहा लपटाई।
ताकर हाल होय अघकूचा। छ-दर्शन में जौन बिगूचा।

कबीर बीजक पृ० ६७

ब्रह्मा बिस्नु महेसर कहिये इन सिर लागी काई।
इनहिं भरोसे मत्त कोइ रहियो इनहूँ मुक्ति न पाई।

कबीर शब्दावली द्वितीय भाग पृ० १६

माया ते मन ऊपजै मन ते दश अवतार।
ब्रह्म बिस्नु धोखे गये भरम परा संसार।

कबीर बीजक पृ० ६९०

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना।
मुक्ति का मर्म उनहुँ नहिं जाना

कबीर बीजक पृ० ६५०

भगवान कृष्णचन्द्र और हिन्दू देवताओं के विषय में जैसे घृणित भाव उन्होंने फैलाये, उनके अनेक पद इसके प्रमाण हैं। परन्तु मैं उनको यहाँ उठाना नहीं चाहता, क्योंकि उन पदों में अश्लीलता की पराकाष्ठा है। उनकी रचनाओं में योग, निर्गुण-ब्रह्म और उपदेश एवं शिक्षा सम्बन्धी बड़े हृदयग्राही वर्णन हैं। मेरा विचार है कि उन्होंने इस विषय में गुरु गोरखनाथ और उनके पदाधिकारी महात्माओं का बहुत कुछ अनुकरण किया है। गुरु गोरखनाथ का ज्ञानवाद और योगवाद ही कबीर साहब के निर्गुणवाद का स्वरूप ग्रहण करता है। मैं अपने इस कथन की पुष्टि के लिए गुरु गोरखनाथ की पूर्वोद्धृत रचनाओं की ओर आप लोगों की दृष्टि फेरता हूं और उनके समकालीन एवं उत्तराधिकारी नाथ सम्प्रदाय के आचार्यों की कुछ रचनाएँ भी नीचे लिखता हूँ—

१—थोड़ो खाय तो कलपै झलपै, घणों खाय तो रोगी।
दुहूँ पर वाकी संधि विचारै ते को बिरला जोगी॥
यहु संसार कुवधि का खेत, जब लगि जीवै तब लगि चेत।
आख्याँ देखै काण सुणै, जैसा बाहै तैसा लुणै॥
जलन्धर नाथ।

२—मारिबा तौ मनमीर मारिबा, लूटिबा पवन भँडार।
साधिबा तौ पंचतत्त साधिबा, सेइबा तौ निरंजन निरंकार
माली लौं भल माली लौं, सींचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहूपनि, पाइले आवा गवन निवारी॥
चौरंगी नाथ।

३—आछै आछै महिरे मंडल कोई सूरा।
मार्‌या मनुवाँ नएँ समझावै रे लो॥
देवता ने दाणवां एणे मनवैं व्याह्या।
मनवा ने कोई ल्यावै रे लो॥

जोति देखि देखी पड़ेरे पतंगा।
नादै लीन कुरंगा रे लो॥
एहि रस लुब्धी मैगल मातो।
स्वादि पुरुष तैं भौंरा रे लो॥

करणेरी पाव।

४—किसका बेटा, किसकी बहू, आप सवारथ मिलिया सहू।
जेता पूला तेती आल, चरपट कहै सब आल जंजाल।
चरपट चीर चक्रमन कंथा, चित्त चमाऊँ करना।
ऐसी करनी करो रे अवधू, ज्यो बहुरि न होई मरना॥

चरपट नाथ।

५—साधी सूधी के गुरु मेरे, बाई सूंव्यंद गगन मैं फेरै।
मनका बाकुल चिड़ियाँ बोलै, साधी ऊपर क्यों मन डोलै॥
बाई बंध्या सयल जग, बाई किनहुँ न बंध।
बाइबिहूणा ढहिपरै, जोरै कोई न संधि॥

चुणकर नाथ।

कहा जा सकता है कि ये नाथ सम्प्रदाय वाले कबीर साहब के बाद के हैं। इसलिए कबीर साहब की रचनाओं से स्वयं उनकी रचनाएँ प्रभावित हैं, न कि इनकी रचनाओं का प्रभाव कबीर साहब की रचनाओं पर पड़ा है। इस तर्क के निराकरण के लिए मैं प्रकट कर देना चाहता हूँ कि जलन्धर नाथ मछन्दर नाथ के गुरुभाई थे जो गोरखनाथ जी के गुरु थे! चौरंगीनाथ गोरखनाथ के गुरु-भाई, करणेरीपाव जलंधरनाथ के और चरपटनाथ मछन्दरनाथ के शिष्य थे। चुणकरनाथ भी इन्हीं के समकालीन थे *। इसलिए इन लोगों का कबीर साहब

---

* देखिये नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ११, में प्रकाशित 'योग-प्रवाह' नामक लेख।

से पहले होना स्पष्ट है। कबीर साहब की रचनाओं पर, विशेष कर उन रचनाओं पर जो रहस्यवाद से सम्बन्ध रखती हैं, बौद्धधर्म के उन सिद्धों की रचनाओं का बहुत बड़ा प्रभाव देखा जाता है जिनका आविर्भाव उनसे सैकड़ों वर्ष पहले हुआ। कबीर साहब की बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जिनका दो अर्थ होता है। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि ऐसी कविताओं के वाच्यार्थ से भिन्न दूसरे अर्थ प्रायः किये जाते हैं। जैसे,

घर-घर मुसरी मंगल गावै, कछुआ संख बजावै।
पहिरि चोलना गदहा नाचै, भैंसी भगत करावै॥

इत्यादि। इन शब्दों का वाच्यार्थ बहुत स्पष्ट है, किन्तु यदि वाच्यार्थ ही उसका वास्तविक अर्थ मान लिया जाय तो वह बिल्कुल निरर्थक हो जाता है। ऐसी अवस्था में दूसरा अर्थ करके उसकी निरर्थकता दूर की जाती है। बौद्ध सिद्धों की भी द्वयर्थक अनेक रचनाएँ हैं। मेरा विचार है कि कबीर साहब की इस प्रकार की जितनी रचनाएँ हैं वे सिद्धों की रचनाओं के अनुकरण से लिखी गयी हैं। सिद्धों ने योग और ज्ञान सम्बन्धी बातें भी अपने ढंग से कही हैं। उनकी अनेक रचनाओं पर उनका प्रभाव भी देखा जाता है। जून सन् १९३१ की सरस्वती के अंक में प्रकाशित 'चौरासी सिद्ध' नामक लेख में बहुत कुछ प्रकाश इस विषय पर डाला गया है। विषय बोध के लिये उसका कुछ अंश मैं आप लोगों के सामने उपस्थित करता हूं—

"इन सिद्धों की कविताएँ एक विचित्र आशय की भाषा को लेकर होती हैं। इस भाषा को संध्या भाषा कहते हैं, जिसका अर्थ अँधेरे (वाम मार्ग) में तथा उँजाले (ज्ञान मार्ग, निर्गुण) दोनों में लग सके। संध्या भाषा को आज कल के छायावाद या रहस्यवाद की भाषा समझ सकते हैं।"

"भावना और शब्द-साखी में कबीर से लेकर राधास्वामी तक के सभी सन्त चौरासी सिद्धों के ही वंशज कहे जा सकते हैं। कबीर का प्रभाव जैसे दूसरे संतों पर पड़ा और फिर उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी पर जैसे प्रभाव डाला, इसको शृङ्खलाबद्ध करना कठिन नहीं है। परन्तु कबीर का सम्बन्ध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है, यद्यपि भावनाएँ, रहस्योक्तियाँ, उल्टी बोलियों की समानताएँ बहुत स्पष्ट हैं।"

इसी सिलसिले में सिद्धों की रचनाएँ भी देख लीजिये—

१—(मूल) निसि अन्धारी सुसार चारा।
अमिय भखअ मूषा करअ अहारा।
मार रे जोइया मूषा पवना।
जेण तूटअ अवणा गवणा।
भव विदारअ मूसा रवण अगति।
चंचल मूसा कलियाँ नाश करवाती
काला मूसा ऊहण बाण।
गअणे उठि चरअ अमण धाण
तब से मूषा उंचल पांचल।
सद्गुरु वोहे करिह सुनिच्चल।
जबै मूषा एरचा तूटअ।
भुसुक भणअ तबै बांधन फिटअ।
—भुसुक

छाया—

निसि अँधियारी सँचार सँचारा।
अमिय भक्ख मूसा करत अहारा।
मार रे जोगिया मूसा पवना।
जेहिते टूटै अवना - गवना।

भव विदार मूसा खनै खाता।
चंचल मूसा करि नाश जाता।
काला मूसा उरध न वन।
गगने दीठि करै मन बिनु ध्यान।
तबसो मूसा चंचल वंचल।
सतगुरु बाधे करु सो निहचल।
जबहिं मूसा आचार टूटइ।
भुसुक भनत तब बन्धन पू पाटइ।

२—मूल—

जयि तुज्झे भुसुक अहेइ जाइबें मारि हसि पंच जना।
नलिनी बन पइसन्ते होहिसि एकुमणा।
जीवन्ते भेला बिहणि मयेलण अणि।
हण बिनु मासे भुसुक पद्म बन पइ सहिणी।
माआ जाल पसरुो ऊरे बाधेलि माया हरिणी।
सद गुरु बोधे बूझिरे कासूँ कहिनि।

भुसुक

छाया—

जो तोहिं भुसुक जाना मारहु पंच जना।
नलिनी बन पइसंते होहिसि एक मना
जीवत भइल बिहान मरि गइल रजनी।
हाड़ बिनु मासै भुसुक पदम बन पइयसि।
माया-जाल पसारे ऊरे बाँधेलि माया हरिणी।
सद्गुरु बोधे बूझी कासों कथनी।

—भुसुक

अणिमिषि लोअण चित्त निरोधे पवन णिरुहइ सिरिगुरु बोहें।
पवन् बहइ सो निच्चल जब्बें, जोइ कालु करइ किरेतब्बें।

छाया—

अनिमिष लोचन चित्त निरोधइ श्री गुरु बोधे।
पवन बहै सो निश्चल जबै जोगी काल करै का तबै।

—सरहपा

४—मूल—

आगम बेअ पुराणे पंडिउ मान बहन्ति।
पक्कसिरी फल अलिअ जिमि बाहेरित भ्रमयंति।

अर्थ—आगम वेद पुराण में पण्डित अभिमान करते हैं। पके श्री-फल के बाहर जैसे भ्रमर भ्रमण करते हैं।—करहपा*

कबीर साहब स्वामी रामानन्द के चेले और वैष्णव धर्मावलम्बी बतलाये जाते हैं। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है, वे कहते हैं—'कबीर गुरु बनारसी सिक्ख समुन्दर तीर'। उन्होंने वैष्णवत्व का पक्ष लेकर शाक्तों को खरी खोटी भी सुनायी है।—यथा

मेरे संगी द्वै जणा, एक वैष्णव एक राम।
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम।
कबीर धनि ते सुन्दरी जिन जाया बैस्नव पूत।
राम सुमिरि निरभय हुआ सब जग गया अऊत।
साकत सुनहा दोनों भाई। एक निंदै एक भौंकत जाई।

किन्तु क्या उनका यह भाव स्थिर रहा? मेरा विचार है, नहीं, वह बराबर बदलता रहा। इसका प्रमाण स्वयं उनकी रचनाएँ हैं। उन्होंने गोरखनाभ की गोष्ठी नामक एक ग्रन्थ की रचना भी की है। वे शेख़ तक़ी के पास भी जिज्ञासु बन कर जाते थे और ऊँजी के पीर से भी

---

* देखिये सरस्वती जून सन् १९३१ का पृ० ७१४, ७१७, ७१८, ७१९

शिक्षा लेते थे। ऐसा करना अनुचित नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक महात्माओं का सत्संग करना निन्दनीय नहीं—किन्तु यह देखा जाता है कि कबीर साहब कभी वैष्णव हैं, कभी पीर, कभी योगी और कभी सूफ़ी और कभी वेदान्त के अनुरागी। उनका यह बहुरूप श्रद्धालु के लिए भले ही उनकी महत्ता का परिचायक हो, परन्तु एक समीक्षक की दृष्टि इस प्रणाली को संदिग्ध हो कर अवश्य देखेगी। मेरा विचार है कि अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए उन्होंने समय समय पर उपयुक्त पद्धति ग्रहण की है और जनता के मानस पर अपनी सर्वज्ञता की धाक जमा कर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का विशेष ध्यान रखा है। इसीलिये वे अनेक रूप-रूपाय हैं। मैंने उनकी रचनाओं का आधार ढूँढ़ने की जो चेष्टा की है उसका केवल इतना ही उद्देश्य है कि यह निश्चित हो सके कि वास्तव में उनकी रचनाएँ उनके कथनानुसार अभूतपूर्व और अलौकिक हैं या उनका स्रोत किसी पूर्ववर्त्ती ज्ञान-सरोवर से ही प्रसूत है। 'सरस्वती' में 'चौरासी सिद्ध' नामक लेख के लेखक बौद्ध विद्वान् राहुल सांस्कृतायन ने कबीर साहब की रचनाओं पर सिद्धों की छाप बतलाते हुए यह लिखा है कि "कबीर का सम्बन्ध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है।" किन्तु मैं समझता हूँ कि यह आसान है, यदि सिद्धों के साथ नाथ-सम्प्रदाय वालों को भी सम्मिलित कर लिया जाय। मैं नहीं कह सकता कि इस बहुत ही स्पष्ट विकास की ओर उनकी दृष्टि क्यों नहीं गयी?

महात्मा ज्ञानेश्वर ने अपने ज्ञानेश्वरी नामक ग्रन्थ में अपनी गुरु-परम्परा यह दी है—(१) आदिनाथ (२) मत्स्येन्द्रनाथ (३) गोरखनाथ, (४) गहनी नाथ, (५) निवृत्तिनाथ, (६) ज्ञानेश्वर * ज्ञानेश्वर के शिष्य

---

*देखिये, हिन्दुस्तानी, जनवरी, सन् १९३२ के पृ० ३२ में डाक्टर हरि रामचन्द्र दिवेकर एम० ए० डी० लिट० का लेख।

थे नामदेव †। उनका समय है १३७० ई० से १४४० ई० तक। इस लिए उनका कबीर साहब से पहले होना निश्चित है। उन्होंने स्वयं अपने मुख से उनको महात्मा माना है। वे लिखते हैं—

"जागे सुक ऊधव औ' अक्रूर।
हनुमत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव।
कलि जागे नामा जयदेव।

सिक्खों के ग्रन्थ साहब में भी उनके कुछ पद्य संगृहीत हैं। ज्ञानेश्वर जैसे महात्मा से दीक्षित होकर उनकी वैष्णवता कैसी उच्च कोटि की थी और वे कैसे महापुरुष थे उसे निम्नलिखित शब्द बतलाते हैं—

बदो क्यों न होड़ माधो मोसों।
ठाकुर ते जन जनते ठाकुर खेल परयो है तोसों।
आपन देव देहरा आपन आप लगावै पूजा।
जल ते तरँग-तरँग ते जल है कहन-सुनन को दूजा।
आपहि गावै, आपहि नाचै, आप बजावै तूरा।
कहत नामदेव तू मेरे ठाकुर जन ऊरा तू पूरा॥

२—दामिनि दमकि घटा घहरानी, बिरह उठे घनघोर।
चित चातक है दादुर बोलै ओहि बन बोलत मोर।
प्रीतम को पतिया लिख भेजौं प्रेम प्रीति मसि लाय।
वेगि मिलो जन नामदेव को जनम अकारथ जाय।
हिन्दू पूजै देहरा, मुस्सलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, ना देहरा न मसीत।

---

† देखिये, मिश्रबन्धु विनोद प्रथम भाग का पृ० २२३।

मेरा विचार है कि कबीर साहब की रचनाएँ नामदेव के प्रभाव से अधिक प्रभावित हैं। फिर यह कहना कि सिद्धों के साथ कबीर की शृंखला मिलाना आसान नहीं, कहाँ तक संगत है। गुरु गोरखनाथ के मानस के साथ अपने मानस को सम्बन्धित कर कबीर साहब उनकी महत्ता किस प्रकार स्वीकार करते हैं, उसको उनका यह कथन प्रकट करता है—

गोरख भरथरि गोपी चंदा। ता मनसों मिलि-करैं अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा। तामन सों मिलि रहा कबीरा

वास्तव बात यह है कि कबीर साहब के लगभग समस्त सिद्धांत और विचार वैष्णव धर्म और महात्मा गोरखनाथ के ज्ञान-मार्ग और योग मार्ग अथच उनकी परम्परा के महात्माओं की अनुभूतियों पर ही अकधितर अवलम्बित हैं और उन सिद्धों के विचारों से भी सम्बन्ध रखते हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

सरांश यह, कि जैसे स्वयं कबीर साहब सामयिकता के अवतार और नवीन धर्म-प्रवर्त्तन के इच्छुक हैं, वैसे ही उनकी रचनाएँ भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध और महात्माओं के भावों और विचारों से ओत-प्रोत हैं। किन्तु उनमें कुछ व्यक्तिगत विलक्षणताएँ अवश्य थीं जिनका विकास उनकी रचनाओं में भी दृष्टिगत होता है। उनकी इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें कुछ लोगों की दृष्टि में निर्गुण धारा का प्रवर्त्तक बना रखा है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि और विवेचनात्मक बुद्धि से निरीक्षण किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिन सिद्धान्तों के कारण उनके सिर पर सन्तमत के प्रवर्त्तक होने का सेहरा बाँधा जाता है ये सिद्धान्त परम्प-रागत और प्राचीनतम ही हैं। हाँ, उनको जनता के सामने उपस्थित करने में उन्होंने कुछ चमत्कार अवश्य दिखलाया। कबीर साहब के

रहस्यवाद को पढ़कर कुछ श्रद्धालु यह कहते हैं कि वे ईश्वर-विद्या के अद्वितीय मर्मज्ञ थे। वे भी अपने को ऐसा ही समझते हैं। लिखते हैं—

सुर नर मुनि जन औलिया ए सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर।

किसी के श्रद्धा-विश्वास के विषय में मुझको कुछ वक्तव्य नहीं देना है। कबीर साहब स्वयं अपने विषय में जो कुछ कहते हैं, उसका उद्देश्य क्या था, इस पर मैं बहुत कुछ प्रकाश डाल चुका हूँ। इष्टसिद्धि के लिए वे जो पथ-ग्रहण करना उचित समझते थे, ग्रहण कर लेते थे। प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक में यह बात देखी जाती है। इसलिए इस विषय में अधिक लिखना पिष्टपेषण है, किन्तु यह मैं स्वीकार करूँगा कि कबीर साहब हिन्दी संसार में रहस्यवाद के प्रधान स्तम्भ हैं। उनका रहस्यवाद भी कुछ पूर्व महज्जनों की रचनाओं पर आधारित हो, परन्तु उनके द्वारा वह बहुत कुछ पूर्णता को प्राप्त हो गया। उनकी ऐसी रचनाओं में बड़ी ही विलक्षणता और गम्भीरता दृष्टिगत होती है। कुछ पद्य देखिये:—

१—ऐसा लो तत ऐसा लो मैं केहि विधि कहौं गँभीरा लो।
बाहर कहूँ तो सतगुरु लाजै भीतर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरन्तर गुरु परतापै दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लखा न जाई लो।
जिन पहचाना तिन भल जाना कहे न कोउ पतिआई लो।
मीन चले जल मारग जोवै परम तत्व धौं कैसा लो।
पुहुप बास हूँ ते अति झीना परम तत्व धौं ऐसा लो।
आकासे उड़ि गयो बिहँगम पाछे खोज न दरसी लो।
कहै कबीर सतगुरु दाया तें बिरला सतपद परसी लो।

२—साधो सतगुरु अलख जगाया जब आप-आप दरसाया।
बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै बृच्छा मद्धे छाया।

परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे माया।
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिये सुन्न अंड आकारा।
निह अच्छर ते मच्छर तैसे अच्छर छर बिस्तारा।
ज्यों रवि मद्धे किरन देखिये किरन मध्य परकासा।
परमातम में जीव ब्रह्म इमि जीव मध्य जिमि साँसा।
स्वाँसा मद्धे सब्द देखिये अर्थ शब्द के माहीं।
ब्रह्म ते जीव जीव ते मन यों न्यारा मिला सदाहीं।
आपहि बीज वृच्छ अंकूरा आप फूल फल छाया।
आपहि सूर किरन परकासा आप ब्रह्म जिव माया।
अंडाकार सुन्न नभ आपै स्वाँस सब्द अरु जाया।
निह अच्छर अच्छर छर आपै मन जिउ ब्रह्म समाया।
आतम में परमातम दरसै परमातम में झांईं।
झांईं में परछांईं दरसै लखै कबीरा सांईं।

रहस्यवादकी ऐसी सुन्दर रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कही हैं जो बिल्कुल ऊटपटाँग और निरर्थक मालूम होती हैं। इस पद को देखिये:—

ठगिनी क्या नैना झमकावै।
कबिरा तेरे हाथ न आवै।
कद्दू काटि मृदंग बनाया नीबू काटि मँजीरा।
सात तरोई मंगल गावैं नाचै बालम खीरा।
भैंस पदमिनी आसिक चूहा मेढक ताल लगावै।
चोला पहिरि गदहिया नाचै ऊँट बिसुनपद गावै।
आम डार चढ़ि कछुआ तोड़ै गिलहरि चुनचुनि लावै।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो बगुला भोग लगावै।

ऐसे पदों के अनर्गल अर्थ करने वाले मिल जाते हैं। परन्तु उनमें वास्तविकता नहीं, धींगा-धींगी होती है। मेरा विचार है उन्होंने ऐसी रचनाएँ जनता को विचित्रता-समुद्र में निमग्न कर अपनी ओर आकर्षित करने ही के लिए की हैं। उनकी उल्टबाँसियाँ भी विचित्रताओं से भरी हैं। दो पद्य उनके भी देखिये—

देखौ लोगो घर की सगाई।
माय धरै पितु धिय सँग जाई।
सासु ननद मिलि अदल चलाई।
मादरिया गृह बेटी जाई।
हम बहनोई राम मोर सारा।
हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा।
कहै कबीर हरी के बूता।
राम रमैं ते कुकुरी के पूता।

कबीर बीजक, पृ० ३६३

देखि-देखि जिय अचरज होई।
यह पद बूझै बिरला कोई।
धरती उलटि अकासहिं जाई।
चिंउटी के मुख हस्ति समाई।
बिन पौने जहँ परबत उड़ै।
जीव जन्तु सब बिरछा बुड़ै।
सूखे सरवर उठै हिलोर।
बिन जल चकवा करै कलोल।
बैठा पंडित पढ़ै पुरान।
बिन देखे का करै बखान।

कह कबीर जो पद को जान।
सोई सन्त सदा परमान।

—कबीर बीजक पृ० ३६४

कबीर साहब ने निगु'ण का राग अलापते हुए भी अपनी रचनाओं में सगुणता की धारा बहायी है। कभी वे परमात्मा के सामने स्वामी-सेवक के भाव में आते हैं, कभी स्त्री-पुरुष अथवा पुरुष प्रेमी और प्रेमिका के रूप में, कभी ईश्वर को माता-पिता मानकर आप बालक बनते हैं और कभी उसको जगन्नियंता मानकर अपने को एक क्षुद्र जीव स्वीकार करते हैं। इन भावों की उनकी जितनी रचनाएँ हैं सरस और सुन्दर हैं और उनमें यथेष्ट हृदयग्राहिता है। जनता के सामने कभी वे उपदेशक और शिक्षक के रूप में दिखलायी देते हैं, कभी सुधारक बन कर। मिथ्याचारों का खंडन वे बड़े कटु शब्दों में करते हैं और जिस पर टूट पड़ते हैं उसकी गत बना देते हैं। उनकी यह नानारूपता इष्ट-साधन की सहचरी हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ सत्यता की ज्योति मिलती है, वहीं कटुता की पराकाष्ठा भी दृष्टिगत होती है। वास्तव बात यह है कि हिन्दी संसार में उनकी रचनाएँ विचित्रतामयी हैं। उनका शब्द-विन्यास बहुधा असंयत और उद्वेजक है, कहीं-कही वह अधिकतर उच्छृङ्खल है, छन्दों नियम की रक्षा भी उसमें प्राय: नहीं मिलती। फिर भी उनकी कुछ रचनाओं में वह मन-मोहकता, भावुकता, और विचार की प्राञ्जलता मिलती है जिसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है।

कविवर सूरदास

सोलहवीं शताब्दी में ही हिन्दी-संसार के सामने साहित्य गगन के उन उज्ज्वलतम तीन तारों का उदय हुआ जिनकी ज्योति से वह आज तक ज्योतिर्मान है। उनके विषय में चिर-प्रचलित सर्वसम्मति यह है:—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास।
काव्य करैया तीन हैं, तुलसी, केशव, सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर।

यह सम्मति कहाँ तक मान्य है, इस विषय में मैं विशेष तर्क-वितर्क नहीं करना चाहता। परन्तु यह मैं अवश्य कहूँगा कि इस प्रकार के सर्व-साधारण के विचार उपेक्षा-योग्य नहीं होते, वे किसी आधार पर होते हैं। इसलिए उनमें तथ्य होता है और उनकी बहुमूल्यता प्रायः असंदिग्ध होती है। इन तीनों साहित्य-महारथियों में किसका क्या पद और स्थान है इस बात को उनका वह प्रभाव ही बतला रहा है जो हिन्दी संसार में व्यापक होकर विद्यमान है। मैं इन तीनों महाकवियों के विषय में जो सम्मति रखता हूँ, उसे मेरा वक्तव्य ही प्रकट करेगा, जिसे मैं इनके सम्बन्ध

में यथास्थान लिखूँगा। इन तीनों महान् साहित्यकारों में काल की दृष्टि से सूरदासजी का प्रथम स्थान है, तुलसीदासजी का द्वितीय और केशवदासजी का तृतीय। इसलिए इसी क्रम से मैं आगे बढ़ता हूँ।

कविवर सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने ही ब्रजभाषा का वह शृङ्गार किया जैसा शृङ्गार आज तक अन्य कोई कवि अथवा महाकवि नहीं कर सका। मेरा विचार है कि कविवर सूरदासजी का यह पद हिन्दी-संसार के लिए आदिम और अन्तिम दोनों है। हिन्दी भाषा की वर्त्तमान प्रगति यह बतला रही है कि ब्रजभाषा के जिस उच्चतम आसन पर वे आसीन हैं सदा वे ही उस आसन पर विराजमान रहेंगे; समय अब उनका समकक्ष भी उत्पन्न न कर सकेगा। कहा जाता है, उनके पहले का 'सेन' नामक ब्रजभाषा का एक कवि है। हिन्दी संसार उससे एक प्रकार अपरिचित-सा है। उसका कोई ग्रन्थ भी नहीं बतलाया जाता। कालिदास ने औरंगजेब के समय में हजारा नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। उसमें उन्होंने 'सेन' कवि का एक कवित्त लिखा है, वह यह है—

जब ते गोपाल मधुबन को सिधारे आली,
मधुबन भयो मधु दानव बिषम सों।
'सेन' कहै सारिका सिखंडी खंजरीट सुक
मिलि कै कलेस कीनो कालिँदी कदम सों।
जामिनी वरन यह जामिनी मैं जाम-जाम
बधिक की जुगुति जनावै टेरि तम सों।
देह करै करज करेजो लियो चाहति है,
काग भई कोयल कगायो करै हमसों।

कविता अच्छी है, भाषा भी मँजी हुई है। परन्तु इस कवि का काल संदिग्ध है। मिश्रबन्धुओं ने शिवसिंह सरोज के आधार से इनका काल

सन् १५०३ ई० बतलाया है। परन्तु वे ही इसको संदिग्ध बतलाते हैं। जो हो, यदि यह कविता कविवर सूरदासजी के पहले की मान भी ली जावे तो इससे उनके आदिम आचार्यत्व को बट्टा नहीं लगता। मेरा विचार है कि सूरदासजी के प्रथम ब्रजभाषा का कोई ऐसा प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ कि जिसकी कृति ब्रजभाषा कविता का साधारण आदर्श बन सके। दो चार कवित्त लिखकर और छोटा-मोटा ग्रंथ बनाकर कोई किसी महाकवि का मार्ग-दर्शक नहीं बन सकता। सूरदासजी से पहले कबीर-दास, नामदेव, रविदास आदि सन्तों की बानियों का प्रचार हिन्दू संसार में कुछ न कुछ अवश्य था। संभव है कि ब्रजभाषा के ग्राम्यगीत भी उस समय कुछ अपनी सत्ता रखते रहे हों। परन्तु वे उल्लेख योग्य नहीं। मैं सोचता हूँ कि सूरदासजी की रचनाएँ अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हैं और वे किसी अन्य की कृति से उतनी प्रभावित नहीं हैं जो वे उनका आधार बन सकें। खुसरो की कविताओं में भी ब्रजभाषा की रचनाएँ मिली हैं और ये रचानाएँ भी थोड़ी नहीं हैं। यदि उनकी रचनाओं का आधार हम ब्रजभाषा की किसी प्राचीन रचना को मान सकते हैं तो सूरदास की रचनाओं का आधार किसी प्राचीन रचना को क्यों न मानें? मानना चाहिये और मैं मानता हूँ। मेरा कथन इतना ही है कि सूरदासजी के पहले ब्रजभाषा की कोई ऐसी उल्लेख-योग्य रचना नहीं थी जो उनका आदर्श बन सके।

प्रज्ञाचक्षु सूरदासजी अपने आदर्श आप थे। वे स्वयं-प्रकाश थे। ज्ञात होता है इसीलिए वे हिन्दी-संसार के सूर्य कहे जाते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य उनको सागर कहा करते थे। इसी आधार पर उनके विशाल ग्रन्थ का नाम सूरसागर है। वास्तव में वे सागर थे और सागर के समान ही उत्ताल तरंग-माला-संकुलित। उनमें गम्भीरता भी वैसी ही पायी जाती है। जैसा प्रवाह, माधुर्य, सौन्दर्य उनकी कृति में पाया जाता है अन्यत्र दुर्लभ है। वे भक्तिमार्गी थे, अतएव प्रेममार्ग का जैसा त्यागमय

आदर्श उनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है, वह अभूतपूर्व है। प्रेम-मार्गी सूफी सम्प्रदायवालों ने प्रेम-पंथ का अवलंबन कर जैसी रस-धारा बहायी उससे कहीं अधिक भावमय मर्मस्पर्शी और मुग्धकारिणी प्रेम की धारा सूरदासजी ने अथवा उनके उत्तराधिकारियों ने बहायी हैं। यही कारण है कि वे धाराएँ अन्त में आकर इन्हीं धाराओं में लीन हो गयीं। क्योंकि भक्तिमार्गी कृष्णावत सम्प्रदाय की धाराओं के समान व्यापकता उनको नहीं प्राप्त हो सकी। परोक्ष सत्ता सम्बन्धी कल्पनाएँ मधुर और हृदयग्राही हैं और उनमें चमत्कार भी है, किन्तु वे बोध-सुलभ नहीं। इसके प्रतिकूल वे कल्पनाएँ बहुत ही बोध-गम्य बनीं और अधिकतर सर्व साधारण को अपनी ओर आकर्षित कर सकीं जो ऐसी सत्ता के सम्बन्ध में की गयीं और जो परोक्ष-सत्ता पर अवलम्बित होने पर भी संसार में अपरोक्ष भाव से अलौकिक मूर्त्ति धारण कर उपस्थित हुईं। भगवान श्रीकृष्ण क्या हैं? परोक्ष सत्ता ही की ऐसी अलौकिकतामयी मूर्ति हैं जिसमें 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' मूर्त होकर विराजमान है। सूफ़ी मत के प्रेम मार्गियों की रचनाओं में यह बात दृष्टिगत हो चुकी है कि वे किसी नायक अथवा नायिका का रूप वर्णन करते-करते उसको परोक्ष-सत्ता ही की विभूति मान लेते हैं और फिर उसके विषय में ऐसी बातें कहने लगते हैं जो विश्व की आधार-भूत परोक्ष सत्ता ही से सम्बन्धित होती हैं। अनेक अवस्थाओं में उनका इस प्रकार का वर्णन बोध-सुलभ नहीं होता, वरन् एक प्रकार से सन्दिग्ध और जटिल बन जाता है। किन्तु भक्ति-मार्गी महात्माओं के वर्णन में यह न्यूनता नहीं पायी जाती क्योंकि वे पहले ही से अपनी अपरोक्ष सत्ता को परोक्ष सत्ता का ही अंग-विशेष होने का संस्कार सर्व साधारण के हृदय में विविध युक्तियों से अंकित करते रहते हैं। क्या किसी सूफ़ी प्रेम-मार्गी कवि की रचनाओं में वह अलौकित मुरली-निनाद हुआ, वह लोक-विमुग्धकर गान हुआ, उस सुर-दुर्लभ शक्ति का विकास हुआ, उस शिव-संकल्प का समुदय हुआ और उन अचिन्तनीय

सत्य भावों का आविर्भाव हुआ जो महामहिम सूरदास जैसे महात्माओं की महान् रचनाओं के अवलम्बन हैं ? और यही सब ऐसे प्रबलतम कारण हैं कि इन महापुरुषों की कृतियों का अधिकतर आदर हुआ और वे अधिकतर व्यापक बनीं। इन सफलताओं का आदिम श्रेय हिन्दी साहित्य में प्रज्ञाचक्षु सूरदासजी ही को प्राप्त है।

मैं समझता हूँ, सूरदासजी का भक्ति-मार्ग और प्रेमपथ श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है और यह महाप्रभु वल्लभाचार्य के सत्संग और उनकी गुरु-दीक्षा ही का फल है। सूरसागर श्रीमद्भागवत का ही अनुवाद है, परन्तु उसमें जो विशेषताएँ हैं वे सूरदासजी की निजी सम्पत्तियाँ हैं। यह कहा जाता है कि उनकी प्रणाली 'भक्तवर' जयदेवजी के के 'गीतगोविन्द' एवं मैथिल कोकिल विद्यापति की रचनाओं से भी प्रभावित है। कुछ अंश में यह बात भी स्वीकार की जा सकती है, परन्तु सूरदासजी की सी उदात्त भक्ति-भावनाएँ इन महाकवियों की रचनाओं में कहाँ हैं ? मैं यह मानूँगा कि सूरदासजी की अधिकतर रचनाएँ शृङ्गार रस-गर्भित हैं। परन्तु उनका विप्रलम्भ शृङ्गार ही, विशेषकर हृदय-ग्राही और मार्मिक है। कारण इसका यह है कि उस पर प्रेम-मार्ग की महत्ताओं की छाप लगी हुई है। यह सत्य है कि मैथिल कोकिल विद्यापति की विप्रलम्भ शृङ्गार की रचनाएँ भी बड़ी ही भावमयी हैं, परन्तु क्या उनमें उतनी ही हृदय-वेदनाओं की झलक है जितनी सूरदासजी की रचनाओं में ? क्या वे उतनी ही अश्रु-धारा से सिक्त, उतनी ही मानसोन्मादिनी और उतनी ही मर्म्मस्पर्शिनी और हृदयवेधिनी हैं जितनी सूरदासजी की विरागमयी वचनावली में ? इन बातों के अतिरिक्त सूरदासजी की रचनाओं में और भी कई एक विशेषताएँ हैं। उनका बाल-लीला-वर्णन और लालभावों का चित्रण इतना सुन्दर और स्वाभाविक है कि हिन्दी-साहित्य को उसका गर्व है। कुछ लोगों की सम्मति है कि संसार के साहित्य में ऐसे अपूर्व बालभावों के चित्रण का अभाव है। मैं इसपर अपनी ठीक सम्मति प्रकट

करने में असमर्थ हूँ, परन्तु यह अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा में ऐसा वर्णन तो है ही नहीं, परन्तु भारतीय अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी वैसा अपूर्व वर्णन उपलब्ध नहीं होता। उनकी विनय और प्रार्थना सम्बन्धी रचनाएँ भी आदर्श हैं और आगे चलकर परवर्ती कवियों के लिए उन्होंने मार्ग-प्रदर्शन का उल्लेखनीय कार्य किया है। मैं इस प्रकार के कुछ पद नीचे लिखता हूँ। उनको देखिये कि उनमें किस प्रकार हृदय खोलकर दिखलाया गया है, उनकी भाषा की प्राञ्जलता और सरलता भी भी दर्शनीय है।

१—जनम सिरानो ऐसे ऐसे।
कै घर घर भरमत जदुपति बिन कै सोवत कै बैसे।
कै कहुँ खानपान रसनादिक कै कहुँ बाद अनैसे।
कै कहुँ रंक कहूं ईसरता नट बाजीगर जैसे।
चेत्यो नहीं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे।
है गति भई सूर की ऐसी स्याम मिलैं धौं कैसे।

२—प्रभु मोरे औगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब दोनों मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो।
एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो।
पारस गुन औगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो।
यह माया भ्रम जाल कहावै सूरदास सगरो।
अबकी बार मोहि पार उतारो नहिं प्रन जात टरो।

३—अपनपो आपन ही बिसरो।
जैसे स्वान काँच के मंदिर भ्रमि भ्रमि भूंकि मरो।
ज्यों केहरि प्रतिमा के देखत बरबस कूप परो।

मरकट मूठि छोड़ नहिं दीन्हीं घर घर द्वार फिरो।
सूरदास नलिनी के सुअना कहु कौने पकरो।

४—मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरी जहाज पै आवै।
कमल नयन को छाड़ि महातम और देव को ध्यावै।
पुलिन गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै।
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावै।

कुछ पद्य बाल भाव-वर्णन के भी देखिये:—

५—मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देख तुही छीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखु नान्हें कर अपने मैं कैसे कर पायो।
मुख दधि पोंछ कहत नँदनंदन दोना पीठि दुरायो।
डारि साँट मुसकाइ तबहिं गहि सुत को कंठ लगायो।

६—जसुदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहें न आनि सुआवै।
तू काहें न बेग ही आवै तोको कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै।
येहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ सो नँद भामिनि पावै।

७—सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु-मंडित तनु मुख दधि लेप किये।

चारु कपोल लोल लोचन छबि गोरोचन को तिलक दिये।
लर लटकत मनो मत्त मधुपगन माधुरि मधुर पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत हैं सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भये सत कल्प जिये।

मैं ऊपर लिख आया हूँ कि सूरदासजी का शृंगार-रस वर्णन बड़ा विशद है और विप्रलम्भ शृङ्गार लिखने में तो उन्होंने वह निपुणता दिखलायी जैसी आज तक दृष्टिगत नहीं हुई। कुछ पद्य इस प्रकार के भी देखिये—

८—सुनि राधे यह कहा विचारै।
वे तेरे रंग तू उनके रंग अपनो मुख काहे न निहारै।
जो देखे ते छाँह आपनी स्याम हृदय तव छाया।
ऐसी दसा नंदनंदन की तुम दोउ निरमल काया।
नीलाम्बर स्यामल तन की छबि तुव छबि पीत सुबास।
घर भीतर दामिनी प्रकासत दामिनि घन चहुँ पास।
सुनरी सखी विलच्छ कहौं तो सौं चाहति हरिको रूप।
सूर सुनौ तुम दोउ सम जोरी एक एक रूप अनूप।

९—काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक सों राजपंथ क्यों रूँधो।
याको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर ले गये ब्याज निबेरत ऊधो।

१०—बिलग मत मानहु ऊधो प्यारे।
यह मथुरा काजर की ओबरी जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे स्याम हमारे।
मानो एक माँठ मैं बोरे ल जमुना जो पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन न्यारे।

११—अरी मोहिं भवन भयानक लागै माई स्याम बिना।
देखहिं जाइ काहि लोचन भरि नंद महरि के अँगना।
लै जो गये अक्रूर ताहि को ब्रज के प्रान धना।
कौन सहाय करै घर अपने मेरे विघन घना।
काहि उठाय गोद करि लीजै करि करि मन मगना।
सूरदास मोहन दरसनु बिनु सुख सम्पति सपना।

१२—खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल *अनियारे* पल पिंजरा न न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके *नतरु* अबहिं उड़ि जाते।

१३—ऊधो अँखियां अति अनुरागी।
एक टक मग जोवति रोवति भूलेहु पलक न लागी।
बिनु पावस पावस रितु आई देखत हैं बिदमान।
अब धौं कहा कियौ चाहति है छाँड़हु निरगुन ज्ञान।
सुनि प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल *सुभाय*।
जैसे मिलैं सूर के स्वामी तैसी करहु उपाय।

१४—नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल वहाँ ते सजनी *सुनियत* दूरि सिधारे।
वे जलसर हम मीन बापुरी कैसे जिवहिं *निनारे*।
हम चातकी चकोर स्याम घन बदन सुधा निधि प्यारे।
मधुवन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे।
सूर के स्याम करी पिय ऐसी मृतक हुते पुनि मारे।

१५—सखी री स्याम सबै एकसार।
मीठे बचन सुहाये बोलत अन्तर जारन हार।

भवँर कुरंग काम अरु कोकिल कपटनि की चटसार।
सुनहु सखीरी दोष न काहू जो विधि लिखो लिलार।
उमड़ी घटा नाखि कै पावस प्रेम की प्रीति अपार।
सूरदास सरिता सर पोषत चातक करत पुकार।

भाषा कविवर सूरदास के हाथों में पड़कर धन्य हो गयी। आरम्भिक काल से लेकर उनके समय तक आपने हिन्दी भाषा का अनेक रूप अवलोकन किया। परन्तु जो अलौकिकता उनकी भाषा में दृष्टिगत हुई वह असाधारण है। जैसी उसमें प्राञ्जलता है वैसी ही मिठास है। जितनी ही वह सरस है उतनी ही कोमल। जैसा उसमें प्रवाह है वैसा ही ओज। भाव मूर्तिमन्त होकर जैसा उसमें दृष्टिगत होता है, वैसी ही व्यंजना भी उसमें अठखेलियाँ करती अवगत होती है। जैसा शृंगार-रस उसमें सुविकसित दिखलायी पड़ता है, वैसा ही वात्सल्य-रस छलकता मिलता है। जैसी प्रेम की विमुग्धकरी मूर्ति उसमें आविर्भूत होती है, वैसा ही आन्तरिक वेदनाओं का मर्मस्पर्शी रूप सामने आता है। ब्रजभाषा के जो उल्लेखनीय गुण अब तक माने जाते हैं और उसके जिस माधुर्य्य का गुणगान अब तक किया जाता है, उसका प्रधान अवलम्बन सूरदासजी का ही कवि कर्म है। एक प्रान्त-विशेष की भाषा समुन्नत होकर यदि देश-व्यापिनी हुई तो ब्रजभाषा ही है और ब्रजभाषा को यह गौरव प्रदान करनेवाले कविवर सूरदास हैं। उनके हाथों से यह भाषा जैसी मँजी, जितनी मनोहर बनी, और जिस सरसता को उसने प्राप्त किया, वह हिन्दी संसार के लिए गौरव की वस्तु है। मैंने ब्रजभाषा की जो विशेषताएँ पहले बतलायी हैं वे सब उनकी भाषा में पायी जाती हैं, वरन् यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा के आधार से ही ब्रजभाषा की विशेषताओं की कल्पना हुई। मेरा विचार है कि उन्होंने इस बात पर भी दृष्टि रखी है कि कोई भाषा किस प्रकार व्यापक बन सकती है। उनकी भाषा में ब्रजभाषा का सुन्दर से सुन्दर रूप देखा जाता है। परन्तु

ग्रामीणता दोष से वह अधिकतर सुरक्षित है। उसमें अन्य प्रान्तिक भाषाओं के शब्द भी मिल जाते हैं। किन्तु इनकी यह प्रणाली बहुत मर्य्यादित है। गुरु को लघु और लघु को गुरु करने में उनको संयत देखा जाता है। वे शब्दों को कभी-कभी तोड़ते-मरोड़ते भी हैं। किन्तु उनका यह ढंग उद्वेजक नहीं होता। उसमें भी उनकी लेखनी की निपुणता दृष्टिगत होती है। ब्रजभाषा के जो नियम और विशेषताएँ मैं पहले लिख आया हूँ उनकी रचनाओं में उनका पालन किस प्रकार हुआ है, मैं नीचे उसको उद्धृत पद्यों के आधार से लिखता हूँ—

१—उनकी रचनाओं में कोमल शब्द-विन्यास होता है। इसलिए उनमें संयुक्त वर्ण बहुत कम पाये जाते है जो वैदर्भी वृत्ति का प्रधान लक्षण है। यदि कोई संयुक्त वर्ण आ भी जाता है तो वे उसके विषय में युक्त-विकर्ष सिद्धान्त का अधिकतर पालन करते जाते हैं। जैसे, 'समदरसी', 'महातम', 'दुरलभ', 'दुरमति' इत्यादि। वर्गों के पञ्चम वर्ण के स्थान पर उनको प्रायः अनुस्वार का प्रयोग करते देखा जाता है। जैसे, 'रंक', 'कंचन', 'गंग', 'अंबुज', 'नंदनंदन', 'कंठ' इत्यादि।

२—णकार, शकार, क्षकार के स्थान पर क्रमशः 'न', 'स', और 'छ' वे लिखते हैं। 'ड' के स्थान पर 'ड़' और 'ल' के स्थान पर 'र' एवं संज्ञाओं के आदि के 'य' के स्थान पर 'ज' लिखते उनको प्रायः देखा जता है। ऐसा वे ब्रज प्रान्त की बोलचाल की भाषा पर दृष्टि रख कर ही करते हैं। 'बरन्', 'रेनु', 'गुन', 'औगुन', 'निरगुन', 'सोभित', 'सत', 'स्याम', 'दसा', 'दरसन', 'अतिसै', 'जसुमति', 'जसुदा', 'जदु-पति', 'बिलछि', और 'पच्छी' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

३—गुरु के स्थान पर लघु और लघु के स्थान पर गुरु भी वे करते हैं, किन्तु बहुत कम। 'माधुरि', 'रँग', 'नहिं', दामिनि', 'केहरि', 'मनो', 'भामिनि',' 'बिन' इत्यादि शब्दों में गुरु को लघु कर दिया गया

है। 'घना', 'मगना', इत्यादि में ह्रस्व को दीर्घ कर दिया गया है, अर्थात् 'घन' और 'मगन', के 'न' को 'ना' बनाया गया है।

यह बात भी देखी जाती है कि वे कुछ कारक चिन्हों और प्रत्ययों आदि को लिखते तो शुद्ध रूप में हैं, परन्तु पढ़ने में उनका उच्चारण ह्रस्व होता है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो छन्दोभंग होगा। निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है। ऊपर दिये हुए उद्धरणों में कारक चिह्नों और शब्दगत वर्णों को देखिये:—

'काहे को रोकत मारग सूधो'
२—'मेरो लाल को आऊ निंदरिया काहे न आनि सुआवै
३—'सखी री स्याम सबै एक सार
४—'सूर सुनौ तुम दोऊ सम जोरी एक एक रूप अनूप
५—सूर के स्याम करी पुनि ऐसी मृतक हुते पुनि मारे।
६—'मानो एक गांठ में बोरे लै जमुना जो पखारे।
७—'समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।
'जब दोनों मिलि एक वरन भये सुरसरि नाम परो

यह प्रणाली कहाँ तक युक्ति-संगत है, इसमें मतभिन्नता है। किन्तु जिस मात्रा में विशेष स्थलों पर सूरदासजी ने ऐसा किया है, मेरा विचार है कि वह ग्राह्य है क्योंकि इससे एक प्रकार से विशेष शब्द-विकृति की रक्षा होती है। दूसरी बात यह है कि यदि कुछ शब्दों को ह्रस्व कर दिया जाय तो उसका अर्थ ही दूसरा हो जाता है। जैसे 'भये' को 'भय' लिख कर यदि छन्दोभंग की रक्षा की जाय तो अर्थापत्ति सामने आती है। प्राकृत भाषा में भी यह प्रणाली गृहीत देखी जाती है। उर्दू कवियों की पंक्ति-पंक्ति में इस प्रकार का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में विशेष अवस्था और अल्प मात्रा ही में कहीं ऐसा किया जाता है। यह पिंगल नियमावली के अन्तर्गत भी है। जैसे विशेष स्थानों में

ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व लिखने का नियम हैं उसी प्रकार संकीर्ण स्थलों पर ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व पढ़ने की प्रणाली भी है।

४—प्राकृत और अपभ्रंश में प्रायः कारक चिह्नों का लोप देखा जाता है। सूरदासजी की रचनाओं में भी इस प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं। कुछ तो कारकों का लोप साधारण बोलचाल की भाषा पर अवलम्बित है और कुछ कवितागत अथवा साहित्यिक प्रयोगों पर। नीचे लिखे हुए वाक्य इसी प्रकार हैं—

'जो विधि लिखा लिलार', 'मधुकर अंबुज रस चख्यो', 'मैं कैसे करि पायो' इन वाक्यों में कर्त्ता का ने चिह्न लुप्त है। 'कामधेनु तजि छेरी दुहावै', 'प्रभु मोरे औगुन चित न धरो', 'मरकट मूठि छोड़ि नहिं दीन्हीं', 'सरिता सर पोषत' इन वाक्यों में कर्म का चिह्न 'को' अन्तर्हित है। नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो' इस वाक्य में करण का 'से' चिह्न लुप्त है।

'जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ' में सम्प्रदान का चिह्न 'को' या 'के लिए' का लोप किया गया है। 'बरबस कूप परो', 'मेरे मुख लपटायो' 'ऊँचे घर लटकायो', 'पालने झुलावै', 'कर नवनीत लिये', इन वाक्यों में अधिकरण के 'में' चिह्न का अभाव है।

५—ब्रजभाषा में कुछ ऐसे शब्द प्रयोग आते हैं जिनमें विभक्ति या प्रत्यय शब्द के साथ सम्मिलित होते हैं, अलग नहीं लिखे जाते। कविता में इससे बड़ी सुविधा होती है। इस प्रकार के प्रयोग अधिकतर बोलचाल पर अवलम्बित हैं। पूर्वकालिक क्रिया का चिह्न 'कर' अथवा 'के' है। ब्रजभाभा में प्राय: विधि के साथ इकार का प्रयोग कर देने से भी यह क्रिया बन जाती है। जैसे, 'टरि', 'मिली', 'करि', इत्यादि। संज्ञा के साथ जब ओकार सम्मिलित कर दिया जाता है तो वह प्रायः 'भी' का काम देता है जैसे 'एको', 'दूधो' इत्यादि 'जसुमति मधुरे गावै

में 'मधुर' के साथ मिला हुआ एकार भाव वाचकता का सूचक है। 'दोना पीठि दुरायो' में 'पीठि' के साथ मिलित इकार अधिकरण के 'में' चिह्न का द्योतक है इत्यादि।

६—वैदर्भी वृत्ति का यह लक्षण है कि उसमें समस्त पद आते ही नहीं। यदि आते हैं तो साधारण समस्त पद आते हैं, लम्बे नहीं। कविवर सूरदासजी की रचना में यह विशेषता पायी जाती है, 'जैसे कमल नयन', 'अम्बुज रस', करीलफल इत्यादि।

७—कोमलता उत्पादन के लिए वे प्रायः 'ड़' और 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग करते हैं। जैसे 'घोड़ो' के स्थान पर 'घोरो', तोड़ो' के स्थान पर 'तोरो', 'छेड़ो' के स्थान पर 'छेरो'। इसी प्रकार 'मूल' के स्थान पर 'मूर' और 'चटसाल' के स्थान पर 'चटसार'। उनकी रचनाओं में विकल्प से 'ड़' का भी प्रयोग देखा जाता है और 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग सब स्थानों पर ही होता। शब्द के मध्य का यकार और वकार बहुधा 'ऐ' और 'औ' होता रहता है। जैसा 'नयन', 'वयन', 'सयन' का 'नैन', 'बैन', 'सैन' इत्यादि और 'पवन' 'गवन', 'रवन' का 'पौन' 'गौन', 'रौन' इत्यादि। परन्तु उसका तत्सम रूप भी वे लिखते हैं। प्रायः ब्रजभाषा में वह शब्द जिसके आदि में ह्रस्व इकार युक्त कोई व्यञ्जन होता है और उसके बाद 'या' होता है तो आदि व्यञ्जन का इकार गिर जाता है और वह अपने पर वर्ण 'य' में हलन्त होकर मिल जाता है, जैसे 'सियार' का 'स्यार' 'पियास' का 'प्यास' इत्यादि। किन्तु उनकी रचनाओं में दोनों प्रकार का रूप मिलता है। वे 'प्यास' भी लिखते हैं और 'पियास' भी, 'प्यार' भी लिखते हैं और 'पियार' भी। ऊपर लिखे पद्यों में आप इस प्रकार का प्रयोग देख सकते हैं।

८—सूरदासजी को अपनी रचनाओं में मुहावरों का प्रयोग करते भी देखा जाता है। परन्तु चुने हुए मुहाविरे ही उनकी रचना में आते

हैं, जिससे उनकी उक्तियाँ बड़ी ही सरस हो जाती हैं। ऊपर के पद्यों में निम्नलिखित मुहावरे आये हैं। जिस स्थान पर ये मुहावरे आये हैं उन स्थानों को देख कर आप अनुमान कर सकते हैं कि मेरे कथन में कितनी सत्यता है:—

१—गोद करि लीजै
२—कैसे करि पायो
३—बिलग मत मानहु
४—लोचन भरि
५—ख्याल परे

६—देखा जाता है कि सूरदासजी कभी-कभी पूर्वी हिन्दी के शब्दों को भी अपनी रचना में स्थान देते हैं। 'वैसे', 'पियासो' इत्यादि शब्द ऊपर के पद्यों में आप देख चुके हैं। 'सुनो' और 'मेरे' इत्यादि खड़ी बोली के शब्द भी कभी-कभी उनकी रचना में आ जाते हैं। किन्तु उनकी विशेषता यह है कि वे इन शब्दों को अपनी रचनाओं में इस प्रकार खपाते हैं कि वे उनकी मुख्य भाषा (ब्रजभाषा) के अंग बन जाते हैं। अनेक अवस्थाओं में तो उनका परिचय प्राप्त करना भी दुस्तर हो जाता है। जिस कवि में इस प्रकार की शक्ति हो उसका इस प्रकार का प्रयोग तर्क-योग्य नहीं कहा जा सकता। जो अन्य प्रान्त की भाषाओं के शब्दों अथवा प्रान्तिक बोलियों के वाक्यों को अपनी रचनाओं में इस प्रकार स्थान देते हैं कि जिनसे वे भद्दी बन जाती हैं अथवा जो उनकी मुख्य भाषा की मुख्यता में बाधा पहुँचाती हैं उनकी ही कृति तर्क-योग्य कही जा सकती है। दूसरी बात है कि जब किसी प्रान्तिक भाषा को व्यापकता प्राप्त होती है तो उसे अपने साहित्य को उन्नत बनाने के लिए संकीर्णता छोड़ कर उदारता ग्रहण करनी पड़ती

है। जिस भाषा ने इस प्रकार की उदारता ग्रहण की, वही अपनी परिधि से निकल कर व्यापकता प्राप्त कर सकी। आज गोस्वामी तुलसीदास और कविवर सूरदास की रचनाएँ यदि उत्तरीय भारत को छोड़ कर दक्षिणीय भारत के कुछ अंशों में भी आद्रित हो रही हैं तो उसका कारण यही है कि उन्होंने अपनी भाषा को उदार बनाया और उसके निजत्व को सुरक्षित रख कर अन्य भाषाओं के शब्दों को भी उसमें स्थान दिया। इस दृष्टि से देखने पर सूरदासजी ने इस विषय में जो कुछ स्वतंत्रता ग्रहण की है वह इस योग्य नहीं कि उस पर उंगली उठायी जा सके।

१०—प्राकृत भाषा के जो शब्द सुन्दर और सरस होने के कारण ब्रजभाषा की बोलचाल में गृहीत रहे, सूरदासजी की रचनाओं में भी उनका प्रयोग उसी रूप में पाया जाता है। ऐसे शब्द 'सायर', 'लोयन', 'नाह', 'केहरि' इत्यादि हैं। वे अपभ्रंश भाषा के अनुसार कुछ प्रातिपदिक और प्रत्ययों को भी उकार युक्त लिखते हैं जैसे तपु, मुहुं, आजु, बिनु इत्यादि। ब्रजभाषा और अवधी में अपभ्रंश अथवा प्राकृत भाषा की अनेक बिशेषताएँ पायी जाती हैं। ऐसी अवस्था में यदि उसके कुछ शब्द अपने मुख्य रूप में इन भाषाओं में आते हैं तो उनका आना युक्ति-संगत है, क्योंकि इस प्रकार की विशेषताएँ और शब्दावली ही उस घनिष्ठता का परिचय देती रहती है जो कि ब्रजभाषा अथवा अवधी का प्राकृत अथवा अपभ्रंश के साथ है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार की घनिष्ठता अधिक वांछनीय है।

११—ब्रजभाषा की बोलचाल में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका उच्चारण कुछ ऐसी विशेषता से किया जाता है कि वे बहुत मधुर बन जाते हैं। इन शब्दों के अन्त में एक वर्ण अथवा 'आ' इस प्रकार बढ़ा दिया जाता है कि जिससे उसका अर्थ तो वही रह जाता है जिसमें वह मिलाया जाता है, परन्तु ऐसा करने से उसमें एक विचित्र मिठास आ

जाती है। 'सुअना', 'नैन', 'नदिया', 'निदरिया', 'जियरा', 'हियरा' आदि ऐसे ही शब्द हैं। सूरदासजी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपनी रचना में इस सरसता के साथ करते हैं कि उसका छिपा हुआ रस छलकने लगता है। देखिये—

१—'सूरदास नलिनी के *सुअना* कहु कौने पकरो'।
२—*नैना* भये अनाथ हमारे।
३—एक *नदिया* एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
४—'मेरे लाल को आउ निँदरिया काहे न आनि सुहावै'।

अवधी भाषा के इसी प्रकार के शब्द 'करेजवा' 'बदरवा' इत्यादि हैं। जैसे संस्कृत में स्वार्थे क' आता है जैसे-'पुत्रक', 'बालक' इत्यादि। इन दोनों शब्दों में जो अर्थ 'पुत्र' और 'बाल' का है वही अर्थ सम्मिलित 'क' का है, उसका कोई अन्य अर्थ नहीं। इसी प्रकार 'मुखड़ा', 'बछड़ा', 'हियरा', 'जियरा', 'करेजवा', 'बदरवा', 'अँसुवा', 'नदिया', निँदरिया' के 'ड़ा', 'रा', 'बा', और 'आदि' हैं जो अन्त में आये हैं और अपना पृथक अर्थ नहीं रखते, केवल 'आ' भी आता है, जैसे 'नैना', 'बैना', 'बदरा', 'अँचरा,' का 'आ'।

१२—ब्रजभाषा में बहुवचन के लिए शब्द के अन्त में 'न' और 'नि' आता है। ईकारान्त शब्दों में पूर्ववर्त्ती वर्ण को ह्रस्व करके याँ और अकारान्त शब्दों के अन्त में 'ऐ' आता है। सूरदासजी की रचनाओं में इन सब परिवर्तनों के उदाहरण मिलते हैं, जिनसे उनकी व्यापक दृष्टि का पता चलता है। निम्नलिखित पंक्तियों को देखिये:—

'कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि निरखत नँदरनियाँ'
'भरि भरि जमुना उमड़ि चलत है इन नैनन के तीर'

'लोगन के मन हाँसी'
'सूर परागनि *तजति* हिये ते श्री गुपाल अनुरागी ।
अँखिया हरिदरसन की प्यासी'
'जलसमूह बरसत दोउ *आँखें* हूँकत लीने नाउँ'

१३—सूरदास की रचना में मुख्य बात यह पायी जाती है कि वे संस्कृत तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। परन्तु विशेषता यह है कि उनके शब्द चुने हुए और ऐसे होते हैं जिनको काव्योपयुक्त कहा जा सकता है। संयुक्त वर्णों को तो मुख्य रूप में वे कभी-कभी संकीर्ण स्थलों पर ही लेते हैं। परन्तु, कोमल, ललित और सरस तत्सम शब्दों को वे निस्संकोच ग्रहण करते हैं और इस प्रकार अपनी भाषा को मधुरतम बना देते हैं। उद्धृत पद्यों में से सातवें पद्य को देखिये। उनकी रचना में जो शब्द जिस भाव की व्यञ्जना के लिए आते हैं वे ऐसे मनोनीत होते हैं जो अपने स्थान पर बहुत ही उपयुक्त जान पड़ते हैं। अनुप्रास अथवा वर्णमैत्री जैसी उनकी कृति में मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। जो शब्द उनकी रचना में आते हैं, प्रवाह रूप में आते हैं। उनके अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि वे प्रयत्नपूर्वक नहीं, स्वाभाविक रीति से आकर अपने स्थान पर विराजमान हैं। रसानुकूल शब्द-चयन उनकी रचना की विशेष सम्पत्ति है। अधिकतर उनकी रचनाएँ पद के स्वरूप ही हैं, अतएव झंकार और संगीत उनके व्यवहृत शब्दों के विशेष गुण हैं। इतना होने पर भी जटिलता का लेश नहीं। सब ओर प्राञ्जलता और सरलता ही दृष्टिगत होती है।

१४—किसी भाव को यथातथ्य अंकित करना और उसका जीता-जागता चित्र सामने लाना सूरदासजी की प्रतिभा का प्रधान गुण है। जिस भाव का चित्र वे सामने रखते हैं उनकी रचनाओं में वह मूर्तिमन्त होकर दृष्टिगत होता है। प्रार्थना और विनय के पदों में उनके

मानसिक भाव किस प्रकार ज्ञान-पथ में विचरण करते हैं और फिर कैसे विश्व-सत्ता के सामने वे विनत हो जाते हैं इस बात को उनके विनय के पद्यों की पंक्ति-पंक्ति बड़ी ही सरसता से अभिव्यञ्जित करती पायी जाती है। उद्धृत पद्यों में से संख्या एक से चार तक के पद्य देखिये। उनमें एक ओर यदि मानवों के स्वाभाविक अज्ञान, दुर्बलताओं और भ्रम-प्रमाद पर हृदय मर्माहत होता देखा जाता है तो दूसरी ओर मानसिक करुणा अपने हाथों में विनय की पुष्पांजलि लिये किसी करुणासागर की ओर अग्रसर होती दिखलायी पड़ती है। लालभाव का वर्णन जिन पदों में है, देखिये संख्या ५ से ७ तक, उनमें बालकों के भोले-भाले भाव जिस प्रकार अंकित हैं, वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। उनके देखने से ज्ञात होता है कि कवि किस प्रकार हृदय की सरल से सरल वृत्तियों और मन के सुकुमार भावों के यथातथ्य चित्रण की क्षमता रखता है। बाल-लीला के पदों को पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होने लगता है कि जिस समय की लीला का वर्णन है उस समय कवि खड़ा होकर वहाँ के क्रिया-कलाप को देख रहा था। इन वर्णनों के पढ़ते ही आँखों के सामने वह समाँ आ जाता है जो उस समय वहाँ मौजूद रहकर कोई देखनेवाली आँखें ही देख सकतीं। इस प्रकार का चित्रण सूरदास के ऐसे सहृदय कवि ही कर सकते हैं, अन्यों के लिए यह बात सुगम नहीं। उनका शृङ्गार-वर्णन पराकाष्ठा को पहुँच गया है। उतना सरस और स्वाभाविक वर्णन हिन्दी-साहित्य में नहीं मिलता। यह मैं कहूँगा कि शृङ्गार-रस के कुछ वर्णन ऐसे हैं कि यदि वे उस रूप में न लिये जाते तो अच्छा होता, किन्तु कला की दृष्टि से वे बहुमूल्य हैं। उनका विप्रलम्भ शृङ्गार ऐसा है जिसके पद पद से रस निचुड़ता है। संसार के साहित्य-क्षेत्र में प्रेम-धाराएँ विविध रूप से बहीं, कहीं वे बड़ी ही वेदनामयी हैं, कहीं उन्मादमयी और रोमांचकारी, और कहीं उनमें आत्मविस्मृति और तन्मयता की ऐसी मूर्ति दिखलायी पड़ती है जो

अनुभव करनेवाले को किसी अलौकिक संसार में पहुँचा देती हैं। फिर भी सूरदास की इस प्रकार की रचनाएँ पढ़ कर यह भावना उत्पन्न होने लगती है कि क्या ऐसी ही सरसता और मोहकता उन सब धाराओं में भी होगी? प्रेम-लीलाओं के चित्रण में जैसी निपुणता देखी जाती है, वैसी प्रवीणता उनकी अन्य रचनाओं में नहीं पायी जाती। उनका विप्रलम्भ शृङ्गार-सम्बन्धी वर्णन बड़ा ही उदात्त है। उनमें मन के सुकुमार भावों का जैसा अंकन है, जैसी उनमें हृदय को द्रवित करनेवाली विभूतियाँ हैं। यदि वे अन्य कहीं होंगी तो इतनी ही होंगी। वे किसी सच्चे प्रेम-पथिक की ही अनुभवनीय हैं, अन्य की नहीं। कोई रहस्यवादी बनता है, और अपरोक्ष सत्ता को लेकर निर्गुण में सगुण की कल्पना करता है। परन्तु कल्पना कल्पना ही है, उसमें मानसिक वृत्तियों का वह सच्चा विकास कहाँ जो वास्तव में किसी सगुण से सम्बन्ध रखता है? जो आन्तरिक आनन्द हम पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश के अनुभूत विभावों से प्राप्त कर सकते हैं, पंचतन्मात्राओं से नहीं, क्योंकि उनमें सांसारिकता है, इनमें नहीं। हम विचारों को दौड़ा लें, पर विचार किसी आधार पर अवलम्बित हो सकते हैं। सांसारिकों को सांसारिकता ही सुलभ हो सकती है। संसार से परे क्या है? उसकी कल्पना वह भले ही कर ले, किन्तु उसका मन उन्हीं में रम सकता है जो सांसारिक विषय हैं। यही कारण है कि जो निर्गुणवादी बनने का दावा करते हैं वे जब आनन्द-मय जीवन की कामना करते हैं तो सगुण भावों का ही आश्रय लेते हैं। सूरदासजी इसके मर्मज्ञ थे। इसलिए उन्होंने सगुण भावों को लेकर ऐसे मोती पिरोये जिनकी बहुमूल्यता चिन्तनीय है, कथ-नीय नहीं। उन्होंने अपने लक्ष्य को प्रकाश में रखा है, अन्धकार में नहीं। इसीलिए उनकी रचनाएँ अन्य प्रेम-मार्गी कवियों से सरसता और मोहकता में अधिकतर स्वाभाविक हैं। उनका यह रंग इतना गहरा

था कि वे कभी कभी अपनी धुन में मस्त होकर निर्गुण पर भी कटाक्ष कर जाते हैं। यह उनका प्रमाद नहीं है, वरन् उनकी सगुण परायणता का अनन्य भाव है। मेरा विचार है कि प्रेममार्ग में उनकी विप्रलम्भ शृंगार की रचनाएँ बड़ा महत्व रखती हैं। यह कहना कि संसार के साहित्य में उनका स्थान सर्वोच्च है, कदाचित् अच्छा न समझा जाय, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि संसार के साहित्य की उच्चतम कृतियों में वे भी समान स्थान लाभ करने की अधिकारिणी हैं।

१५—ब्रजभाषा की अधिकांश क्रियाएँ अकारान्त या ओकारान्त हैं। उसके सर्वनामों और कारक-चिह्नों, प्रत्ययों एवं प्रातिपदिक शब्दों के प्रयोगों में भी विशेषता है जो उसको अन्य भाषाओं अथवा प्रान्तिक बोलियों से अलग करती हैं। सूरदासजी ने अपनी रचना में इनके शुद्ध प्रयोगों का बहुत अधिक ध्यान रखा है। उद्धृत पद्यों के ऐसे अधिकांश शब्दों और क्रियाओं को स्पष्ट कर दिया गया है। उनको देखने से ज्ञात हो जायगा कि वे ब्रजभाषा पर कितना प्रभाव रखते थे। उनकी रचना में फ़ारसी अरबी के शब्द भी, सामयिक प्रभाव के कारण आये हैं। परन्तु उनको भी उन्होंने ब्रजभाषा के रंग में ढाल दिया है। इन सब विषयों पर अधिक लिखने से व्यर्थ विस्तार होगा। इसलिए मैं इस बाहुल्य से बचता हूँ। थोड़ा सा उनपर विचार दृष्टि डालने से ही अधिकांश बातें स्पष्ट हो जायँगी।

पहले लिख आया हूँ कि सूरदासजी ही ब्रजभाषा के प्रधान आचार्य हैं। वास्तव में बात यह है कि उन्होंने ब्रजभाषा के लिए जो सिद्धान्त साहित्यिक दृष्टि से बनाये और जो मार्ग-प्रदर्शन किया आज तक उसी को अवलम्बन करके प्रत्येक ब्रजभाषा का कवि साहित्य-क्षेत्र में अग्रसर होता है। उनके समय से जितने कवि और महाकवि ब्रजभाषा के हुए वे सब उन्हीं की प्रवर्तित-प्रणाली के अनुग हैं। उन्हीं का पदानु-सरण उस काल से अब तक कवि-समूह करता आया है। उनके समय

से अब तक का साहित्य उठा लीजिये, उसमें स्वयं-प्रकाश सूर की ही प्रभा विकीर्ण होती दिखलायी पड़ेगी। जो मार्ग उन्होंने दिखलाया वह आज तक यथातथ्य सुरक्षित है। उसमें कोई साहित्यकार थोड़ा परिवर्तन भी नहीं कर सका। कुछ कवियों ने प्रान्त-विशेष के निवासी होने के कारण अपनी रचना में प्रान्तिक शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु वह भी परिमित है। उन्होंने उस प्रधान आदर्श से मुँह नहीं मोड़ा जिसके लिए कविवर सूरदास कवि-समाज में आज तक पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं।

डाक्टर जी. ए. ग्रियर्सन ने उनके विषय में जो कुछ लिखा है आप लोगों के अवलोकन के लिए उसे भी यहाँ उद्धृत करता हूँ। वे लिखते हैं:—

"साहित्य में सूरदास के स्थान के सम्बन्ध में मैं यही कह सकता हूँ कि वह बहुत ऊँचा है। सब तरह की शैलियों में वे अद्वितीय हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे जटिल से जटिल शैली में लिख सकते थे और फिर दूसरे ही पद में ऐसी शैली का अवलम्बन कर सकते थे जिसमें प्रकाश की किरणों की सी स्पष्टता हो। किसी गुण विशेष में अन्य कवि भले ही उनकी बराबरी कर सके हों, किन्तु सूरदास में अन्य समस्त कवियों के सर्वोत्कृष्ट गुणों का एकत्र भाव है।*

---

* "Regarding Surdas's place in literature, I commonly add that he justly holds a high one. He excelled in all styles. He oould, if occasion required, be more obscure than the spbynu and in the next verse he as clear as a ray of light. Other poets may have equalled him in some particular quality, but he combined the best qualities of all."

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदासजी की काव्य-कला अमृतमयी है। उससे वह संजीवनी धारा निकली जिसने साहित्य के प्रत्येक अङ्ग को ही नवजीवन नहीं प्रदान किया, वरन् मृतप्राय हिन्दू समाज के प्रत्येक अङ्ग को वह जीवन-शक्ति दी जिससे वह बड़े संकट-काल में जीवित रह सकी इसीलिए वे हिन्दी संसार के सुधाधर हैं। गोस्वामीजी की दृष्टि इतनी प्रखर थी और सामयिकता की नाड़ी उन्होंने इस मार्मिकता से टटोली कि उनकी रचनाएँ आज भी रुग्ण मानसों के लिए रसायन का काम दे रही हैं। यदि केवल अपने अलौकिक ग्रन्थ रामचरितमानस का ही उन्होंने निर्माण किया होता तो भी उनकी वह कीर्ति अक्षुण्ण रहती जो आज निर्मल कौमुदी समान भारत-वसुन्धरा में विस्तृत है। किन्तु उनके और भी कई ग्रन्थ ऐसे हैं जिससे उनकी कीर्ति-कौमुदी और अधिक उज्ज्वल हो गयी है और इसीलिए वे कौमुदीश हैं। ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर उनका समान अधिकार देखा जाता है। जैसी ही अपूर्व रचना वे ब्रजभाषा में करते हैं वैसी ही अवधी में। रामचरित

मानस की रचना अवधी भाषा में ही हुई। किन्तु गोस्वामीजी की अवधी परिमार्जित अवधी है और यही कारण है कि जब मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' की भाषा आजकल कठिनता से समझी जाती है तब गोस्वामीजी की रामायण को सर्वसाधारण भी समझ लेते हैं। जायसी भी संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु उनका संस्कृत शब्दों का भण्डार व्यापक नहीं था। इसलिए वे सरस, भावमय एवं कोमल संस्कृत शब्दों के चयन में उतने समर्थ नहीं बन सके जितने गोस्वामीजी। कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृत शब्दों को इतना विकृत कर दिया है कि उसकी पहचान कठिनता से होती है, जैसे 'शार्दूल' का 'सदुर'। परन्तु गोस्वामीजी इस महान् दोष से सर्वथा मुक्त हैं। अवधी शब्दों और वाक्यों के विषय में भी उनकी सहृदयता नीर-क्षीर का विवेक करने में हंस की सी शक्ति रखती है। रामचरित-मानस विशाल ग्रंथ है, परन्तु उसमें ग्रामीण भद्दे शब्द बहुत खोजने पर भी नहीं मिलते। कहीं-कहीं तो अवधी शब्द का व्यवहार उनके द्वारा—इस मधुरता से हुआ है कि वे बड़े ही हृदयग्राही बन गये हैं। उनकी दृष्टि विशाल थी और वे इस बात के इच्छुक थे कि उनकी रचना हिन्दू-संसार में नवजीवन का संचार करे। अतएव उन्होंने हिन्दी-भाषा के ऐसे अनेक शब्दों को भी अपनी रचना में स्थान दिया है जो अवधी भाषा के नहीं कहे जा सकते। उनकी इस दूरदर्शिनी दृष्टि का ही यह फल है कि आज उनके महान् ग्रंथ की उतनी व्यापकता है कि उसके लिए 'गेहे-गेहे' जने-जने वाली कहावत चरितार्थ हो रही है।

गोस्वामीजी जिस समय साहित्य-क्षेत्र में उतरे उस समय निर्गुण-धारा बड़े वेग से बह रही थी जो जनता को परोक्ष सत्ता की ओर ले जाकर उसके मनो में सांसारिकता से विराग उत्पन्न कर रही थी। विराग वैदिक धर्म का एक अङ्ग है। उसको शास्त्रीय भाषा में निवृत्ति

मार्ग कहते हैं। अवस्था विशेष के लिए ही यह मार्ग निर्दिष्ट है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रवृत्ति-मार्ग की उपेक्षा कर अनधिकारी भी निवृत्तिमार्गी बन जाये। निवृत्ति-मार्ग का प्रधान गुण है त्याग जो सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं। इसीलिए अधिकारी पुरुष ही निवृत्ति-मार्गी बन सकता है क्योंकि जो तत्वज्ञ नहीं वह निवृत्ति-मार्ग के नियमों का पालन नहीं कर सकता। निवृत्ति मार्ग का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य घर-बार और बाल-बच्चों का त्याग कर अकर्मण्य बन जाये और तमूरा खड़का कर अपना पेट पालता फिरे। त्याग मानसिक होता है और उसमें वह शक्ति होती है जो देश, जाति, समाज और मानवीय आत्मा को बहुत उन्नत बना देती है। जो अपने गृह को, परिवार को, पड़ोस को, ग्राम को अपनी सहानुभूति, सत्यव्यवहार और त्याग-बल से उन्नत नहीं बना सकता उसका देश और जाति को ऊँचा उठाने का राग अलापना अपनी आत्मा को हीं प्रताड़ित नहीं करना है, प्रत्युत दूसरों के सामने ऐसे आदर्श उपस्थित करना है जो लोक-संग्रह का बाधक है। निर्गुणवादियों ने लोक-संग्रह की ओर दृष्टि डाली ही नहीं। वे संसार की असारता का राग ही गाते और उस लोक की ओर जनता को आकर्षित करने का उद्योग करते देखे जाते हैं जो सर्वथा अकल्पनीय है। वहाँ सुधा का स्रोत प्रवाहित होता हो, स्वर्गीय गान श्रवणगत होता हो, सुर-दुर्लभ अलौकिक पदार्थ प्राप्त होते हों वहाँ उन विभूतियों का निवास हो जो अचिन्तनीय कही जा सकती हैं। परन्तु वे जीवों के किस काम की जब उनको वे जीवन समाप्त करके ही प्राप्त कर सकते हैं? मरने के उपरान्त क्या होता है, अब तक इस रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ। फिर केवल उस कल्पना के आधार पर उसको असार कहना जिसका हमारे जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है क्या बुद्धिमत्ता है, यदि संसार असार है और उसका त्याग आवश्यक है तो उस सार वस्तु को सामने आना चाहिये कि जो

वास्तव में कार्य-क्षेत्र में आकर यह सिद्ध कर दे कि संसार की असारता में कोई सन्देह नहीं। हमारे इन तर्कों का यह अर्थ नहीं कि हम परोक्ष-वाद का खण्डन करते हैं, या उन सिद्धान्तों का विरोध करने के लिए कटिबद्ध हैं, जिनके द्वारा मुक्ति, नरक, स्वर्ग आदि सत्ता स्वीकार की जाती है। यह बड़ा जटिल विषय है। आज तक न इसकी तर्कसम्मत निष्पत्ति हुई न भविष्य काल में होने की आशा है। यह विषय सदा रहस्य ही बना रहेगा। मेरा कथन इतना ही है कि सांसारिकता की समुचित रक्षा करके ही परमार्थ-चिन्ता उपयोगी बन सकती है, वरन् सत्य तो यह कि सांसारिक समुन्नत त्यागमय जीवन ही परमार्थ है। हम आत्महित करते हुए जब लोकहित साधन में समर्थ हों तभी मानव जीवन सार्थक हो सकता है। यदि विचार-दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि जो आत्महित करने में असमर्थ है वह लोक-हित करने में समर्थ नहीं हो सकता। आत्मोन्नति के द्वारा ही मनुष्य लोक-हित करने का अधिकारी होता है। देखा जाता है कि जिसके मुख से यह निकलता रहता है कि 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम, दास मलूका यों कहै, सब के दाता राम,' वह भी हाथ पाँव डालकर बैठा नहीं रहता। क्योंकि पेट उसको बैठने नहीं देता। हाँ, इस प्रकार के विचारों से समाज में अकर्मण्यता अवश्य उत्पन्न हो जाती है, जिससे अकर्मण्य प्राणी जाति और समाज के बोझ बन जाते हैं। उचित क्या है? यही कि हम अपने हाथ-पाँव आदि को उन कर्मों में लगायें जिनके लिए उनका सृजन है। ऐसा करने से लाभ यह होगा कि हम स्वयं संसार से लाभ उठावेंगे और इस प्रवृत्ति के अनुसार सांसारिक अन्य प्राणियों को भी लाभ पहुँचा सकेंगे। प्रयोजन यह है कि सांसारिकता की रक्षा करते हुए, लोक में रहकर लोक के कर्तव्य का पालन करते हुए, यदि मानव वह विभूति प्राप्त कर सके जो अलौकिक बतलायी जाती है तब तो उसकी जीवन-यात्रा सुफल होगी, अन्यत्र सब

प्रकार की असफलता ही सामने आवेगी। रहा यह कि परलोक में क्या होगा उसको यथातथ्य कौन बता सका?

निर्गुणवाद की शिक्षा लगभग ऐसी ही है जो संसार से विराग उत्पन्न करती रहती है। घर छोड़ो, धन छोड़ो, विभव छोड़ो, कुटुम्ब-परिवार छोड़ो। तब करो क्या? जप, तप और हरि-भजन। जीवन चार दिन का है, संसार में कोई अपना नहीं। इसलिए सबको छोड़ो और भगवान का नाम जप कर अपना जन्म बनाओ। इस शिक्षा में लोक-संग्रह का भाव कहाँ? इन्हीं शिक्षाओं का यह फल है कि आजकल हिन्दू-समाज में कई लाख ऐसे प्राणी हैं जो अपने को संसार-त्यागी समझते हैं और आप कुछ न कर दूसरों के सिर का बोझ बन रहे हैं। उनके बाल-बच्चे अनाथ हों, उनकी स्त्री भूखों मरे, उनकी बला से। वे देश के काम आयें या न आयें, जाति का उनसे कुछ भला हो या न हो, समाज उनसे छिन्न-भिन्न होता है तो हो, उनको इन बातों से कोई मतलब नहीं, क्योंकि वे भगवान् के भक्त बन गये हैं और उनको इन पचड़ों से कोई काम नहीं। संसार में रह कर कैसे जीवन व्यतीत करना चाहिये? कैसे दूसरों के काम आना चाहिये? कैसे कष्टितों का कष्ट-निवारण करना चाहिये? कैसे प्राणिमात्र का हित करना चाहिये? मानवता किसे कहते हैं? साधु-चरित्र का क्या महत्व है? महात्मा किसका नाम है? वे न इन सब बातों को जानते और न इन्हें जानने का उद्योग करते हैं। फिर भी वे हरिभक्त हैं और इस बात का विश्वास रखते हैं कि उनके लेने के लिए सीधे सत्य लोक से विमान आयेगा। जिसके ऐसे संस्कार हैं उससे लोक-संग्रह की क्या आशा है? किन्तु कष्ट की बात है कि अधिकांश हमारा संसार-त्यागी समाज ऐसा ही है क्योंकि उसने त्याग और हरि-भजन का मर्म समझा ही नहीं, और क्यों समझता जब परोक्ष सत्ता ही से उसको प्रयोजन है और संसार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने हिन्दू-समाज के इस रोग को उस समय पहचानना था और उन्होंने अपने सम्प्रदाय का यह प्रधान सिद्धान्त रखा कि गार्हस्थ्य धर्म में रह कर ही और सांसारिक समस्त कर्तव्यों का पालन करते हुए ही परमार्थ चिन्ता करनी चाहिये जिससे समाज लोकसंग्रह के मर्म को न समझ कर अस्त-व्यस्त न हो। त्याग का विरोध उन्होंने नहीं किया, किन्तु त्याग के उस उच्च आदर्श की ओर हिन्दू समाज की दृष्टि आकर्षित की जो मानस-सम्बन्धी सच्चा त्याग है। उनका आदर्श इस श्लोक के अनुसार था—

वनेषु दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्,
गृहेषु पञ्चेन्द्रिय निग्रहस्तपः
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनम्।

रागात्मक जनों के लिए वन भी सदोष बन जाता है। घर में रह कर पाँचो इन्द्रियों का निग्रह करना ही तप है। जो अकुत्सित कर्मों में प्रवृत्त होता है उसके लिए घर ही तपोवन है। महाप्रभु वल्लभाचार्य की तरह गोस्वामीजी में भी लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल था। सामयिक मिथ्याचारों और अन्यथा विचारों से वे संतप्त थे। आर्य-मर्यादा का रक्षण ही उनका ध्येय था। वे हिन्दू जाति की रगों में वह लोहू भरना चाहते थे जिससे वह सत्य-संकल्प और सदाचारी बन कर वैदिक धर्म की रक्षा के उपयुक्त बन सके। वे यह भली भाँति जानते थे कि लोक-संग्रह सभ्यता की उच्च सीढ़ियों पर आरोहण किये बिना ठीक-ठीक नहीं हो सकता। वे हिन्दू जनता के हृदय में यह भाव भी भरना चाहते थे कि चरित्र-बल ही संसार में सिद्धि-लाभ का सर्वोत्तम साधन है। इसलिए उन्होंने उस ग्रन्थ की रचना की जिसका

नाम रामचरितमानस है और जिसमें इन सब बातों की उच्च से उच्च शिक्षा विद्यमान है। उनकी वर्णन-शैली और शब्द-विन्यास इतना प्रबल है कि उनसे कोई हृदय प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अपने महान् ग्रन्थ में उन्होंने जो आदर्श हिन्दू-समाज के सामने रखा है वह इतना पूर्ण, व्यापक और उच्च है जो मानव-समाज की समस्त आवश्यकताओं और न्यूनताओं की पूर्ति करता है। भगवान् रामचन्द्र का नाम मर्य्यादा पुरुषोत्तम है। उनकी लीलाएँ आचार-व्यवहार और नीति भी मर्य्यादित है। इसलिए रामचरितमानस भी मर्य्यादामय है। जिस समय साहित्य में मर्य्यादा का उल्लंघन करना साधारण बात थी, उस समय गोस्वामीजी को ग्रन्थ भर में कहीं मर्य्यादा का उल्लंघन करते नहीं देखा जाता। कवि कर्म्म में जितने संयत वे देखे जाते हैं, हिन्दी-संसार में कोई कवि या महाकवि उतना संयत नहीं देखा जाता और यह उनके महान् सत्य और शुद्ध विचार तथा उस लगन का ही फल है जो उनको लोक-संग्रह की ओर खींच रहा था।

गोस्वामीजी का प्रधान ग्रंथ रामायण है। उसमें धर्मनीति, समाज-नीति, राजनीति के सुन्दर से सुन्दर चित्रण हैं। गृहसेवियों से लेकर संसार-त्यागी सन्यासियों तक के लिए उसमें उच्च से उच्च शिक्षा मौजूद है। कर्तव्य-क्षेत्र में उतर कर मानव किस प्रकार उच्च जीवन व्यतीत कर सकता है, जिस प्रकार इस विषय में उसमें उत्तम से उत्तम शिक्षाएँ मौजूद हैं उसी प्रकार परलोक-पथ के पथिकों के लिए भी पुनीत ज्ञान-चर्चा और लोकोत्तर विचार विद्यमान है। हिन्दू-धर्म के विविध मतों का समन्वय जैसा इस महान् ग्रन्थ में मिलता है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होता। शैवों और वैष्णवों का कलह सर्वविदित है। परन्तु गोस्वामीजी ने उसका जिस प्रकार निराकरण किया उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। समस्त वेद, शास्त्र और पुराणों के उच्च से उच्च भावों का निरूपण इस ग्रन्थ में

पाया जाता है और अतीव प्राञ्जलता के साथ। काव्य और साहित्य का कोई उत्तम विषय ऐसा नहीं कि जिसका दर्शन इस ग्रन्थ में न होता हो। यह ग्रन्थ सरसता, मधुरता और मनोभावों के चित्रण में जैसा अभूतपूर्व है वैसा ही उपयोगिता में भी अपना उच्च स्थान रखता है। यही कारण है कि तीन सौ वर्षों से वह हिन्दू समाज, विशेषकर उत्तरी भारत का आदर्श ग्रन्थ है। जिस समय मुसलमानों का अव्याहत प्रताप था, शास्त्रों के मनन, चिन्तन का मार्ग धीरे-धीरे बन्द हो रहा था, संस्कृत की शिक्षा दुर्लभतर हो रही थी और हिन्दू-समाज के लिए सच्चा उपदेशक दुष्प्राप्य था, उस समय इस महान् ग्रन्थ का प्रकाश ही उस अन्धकार का नाश कर रहा था जो अज्ञात-रूप में हिन्दुओं के चारो ओर व्याप्त था। आज भी उत्तर भारत के गाँव-गाँव में हिन्दू शास्त्र की प्रमाण-कोटि में रामायण की चौपाइयाँ गृहीत हैं। प्रायः अंग्रेज विद्वानों ने लिखा है कि योरोप में जो प्रतिष्ठा बाइबिल (Bible) को प्राप्त है, भारतवर्ष में वह गौरव यदि किसी ग्रन्थ को मिला तो वह रामचरितमानस को ही। एक साधारण कुटी से लेकर राजमहलों तक में यदि किसी ग्रन्थ की पूजा होती है तो वह रामायण की ही। उसका श्रवण, मनन और गान सबसे अधिक अब भी होता है। व्याख्याता अपने व्याख्यानों में रामायण की चौपाइयों का आधार लेकर जनता पर प्रभाव डालने में आज भी अधिक सतर्क होता है। वास्तव बात तो यह है कि आज दिन जो महत्व इस ग्रन्थ को प्राप्त है वह किसी महान् से महान् संस्कृत ग्रंथ को भी नहीं। इन बातों पर दृष्टि रख कर जब विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी हिन्दी-साहित्य के सर्वमान्य कवि ही नहीं हैं, हिन्दू-संसार के सर्वपूज्य महात्मा हैं।

मैं पहले कविवर सूरदासजी के विषय में अपनी सम्मति प्रकट कर चुका हूँ और अब भी यह मुक्त कंठ से कहता हूँ कि सूरदासजी ने जिस विषय पर लेखनी चलायी है, उसमें उनकी समकक्षता करनेवाला

हिन्दी-साहित्य में कोई अब तक उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा गोस्वामीजी में देखी जाती है, सूरदासजी में नहीं।

गोस्वामीजी नवरस-सिद्ध महाकवि हैं। सूरदासजी को यह गौरव प्राप्त नहीं। कला की दृष्टि से सूरदासजी तुलसीदासजी से कम नहीं हैं। दोनों एक दूसरे के समकक्ष हैं, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से तुलसीदासजी का स्थान अधिक उच्च है। दूसरी विशेषता गोस्वामीजी में यह है कि उनकी रचनाएँ बड़ी ही मर्य्यादित हैं। वे जानकीजी का वर्णन जहाँ करते हैं वहाँ उनको जगज्जननी के रूप में ही चित्रण करते हैं। उनकी लेखनी जानकीजी की महत्ता जिस रूप में चित्रित करती है वह बड़ी ही पवित्र है। जानकीजी के सौंदर्य-वर्णन की भी उन्होंने पराकाष्ठा की है, किन्तु उस वर्णन में भी उनका मातृ-पद सुरक्षित है। निम्नलिखित पंक्तियों को देखिये—

१—जो पटतरिय तीय सम सीया।
जग अस जुवति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी।
बिष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि वैदेही।
जो छबि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदर सिंगारू।
मथै पानि - पंकज निज मारू।

एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल।

सूरदासजी में यह उच्च कोटि की मर्य्यादा दृष्टिगत नहीं होती। वे जब राधिका के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो ऐसे अंगों का भी वर्णन कर जाते हैं जो अवर्णनीय है। उनका वर्णन भी इस प्रकार करते हैं जो संयत नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी इस प्रकार का वर्णन अश्लील भी हो जाता है। मैं यह मानूँगा कि प्राचीन काल से कवि-परम्परा कुछ ऐसी ही रही है। संस्कृत के कवियों में भी यह दोष पाया जाता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास भी इस दोष से मुक्त न रह सके। रघुवंश में वे इन शब्दों में पार्वती और परमेश्वर की वंदना करते हैं:—"**वागर्थमिव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ! जगतः पितरौ वंदे, पार्वती परमेश्वरौ**"। परन्तु उन्होंने ही कुमार-सम्भव के अष्टम सर्ग में भगवान शिव और जगज्जननी पार्वती के विलास का ऐसा वर्णन किया है जो अत्यन्त अमर्य्यादित है। संस्कृत के कई विद्वानों ने उनकी इस विषय में कुत्सा की है। यह कवि-परम्परा ही का अन्धानुकरण है कि जिससे कवि-कुल-गुरु भी नहीं बच सके, फिर ऐसी अवस्था में सूरदासजी का इस दोष से मुक्त न होना आश्चर्यजनक नहीं। यह गोस्वामीजी की ही प्रतिभा की विशेषता है कि उन्होंने चिरकाल-प्रचलित इस कुप्रथा का त्याग किया और यह उनकी भक्तिमय प्रवृत्ति का फल है। इस भक्ति के बल से ही उनकी कविता के अनेक अंश अभूतपूर्व और अलौकिक हैं। इस प्रवृत्ति ने ही उनको बहुत उँचा उठाया और इस प्रवृत्ति के बल से ही इस विषय में वे सूरदासजी पर विजयी हुए। आत्मोन्नति, सदाचार-शिक्षा, समाज-संगठन, आर्य जातीय उच्च भावों के प्रदर्शन, सद्भाव, सत् शिक्षा के प्रचार एवं मानव प्रकृति के अध्ययन में जो पद तुलसदासजी को

प्राप्त है उस उच्च पद को सूरदास जी नहीं प्राप्त कर सके। दृष्टिकोण की व्यापकता में भी सूरदास का वह स्थान नहीं है जो स्थान गोस्वामीजी का है। मैं यह मानूँगा कि अपने वर्णनीय विषयों में सूरदासजी की दृष्टि बहुत व्यापक है। उन्होंने एक-एक विषय का कई प्रकार से वर्णन किया है। मुरली पर पचासों पद्य लिखे हैं तो नेत्रों के वर्णन में सैकड़ों पद लिख डाले। परन्तु सर्व विषयों में अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण में जैसी विस्तृत दृष्टि गोस्वामीजी की है, उनकी नहीं। सूरदासजी का मुरली-निनाद विश्व विमुग्धकर है। उनकी प्रेम-सम्बन्धी कल्पनाएँ भी बड़ी ही सरस एवं उदात्त हैं। परन्तु गोस्वामीजी की मेघ-गम्भीर गिरा का गौरव विश्वजनीन है और स्वर्गीय भी। उनकी भक्ति भावनाएँ भी लोकोत्तर हैं। इसलिए मेरा विचार है कि गोस्वामीजी का पद सूरदासजी से उच्च है।

मैंने पहले यह लिखा है कि अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर उनका समान अधिकार था। मैं अपने इस कथन की सत्यता-प्रतिपादन के लिए उनकी रचनाओं में से दोनों प्रकार के पद्यों को नीचे लिखता हूँ। उनको पढ़कर आप लोग स्वयं अनुभव करेंगे कि मेरे कथन में अत्युक्ति नहीं है।

१—फोरइ जोग कपारु अभागा।
भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा।
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।
ते प्रिय तुम्हहिं करुइ का माई।
हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती।
नाहिं त मौन रहब दिन राती।

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा।
　　　　बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा।
कोउ नृप होइ हमैं का हानी।
　　　　चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।
जारइ जोग सुभाउ हमारा।
　　　　अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।
तातें कछुक बात अनुसारी।
　　　　छमिय देवि बड़ि चूक हमारी।
तुम्ह पूछउ मैं कहत डराऊँ।
　　　　धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
　　　　समउ फिरै रिपु होइँ पिरीते।
जर तुम्हारि चह सवति उखारी।
　　　　रूँधहु करि उपाइ बर बारी।
तुम्हहिं न सोच सोहाग बल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँहु मीठु नृप, राउर सरल सुभाउ।
जौ असत्य कछु कहब बनाई।
　　　　तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई।
रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी।
　　　　भामिनि भइहु दूध कै माखी।

×　　　　×

काह करउँ सखि सूध सुभाऊ।
　　　　दाहिन बाम न जानउँ काऊ।

नैहर जनम भरब बरु जाई।
जिअत न करब सवति सेवकाई।

—रामायण

२—मोकहँ झूठहिं दोष लगावहिं।
मइया इनहिं बान परगृह की नाना जुगुति बनावहिं।
इन्ह के लिये खेलिबो छोड्यो तऊ न उबरन पावहिं।
भाजन फोरि बोरि कर गोरस देन उरहनो आवहिं।
कबहुँक बाल रोवाइ पानि गहि
एहि मिस करि उठि धावहिं।
करहिं आप सिर धरहिं आन के
बचन बिरंचि हरावहिं।
मेरी टेव बूझ हलधर सों सतत संग खेलावहिं।
जे अन्याउ करहिं काहू को ते सिसु मोहिं न भावहिं।
सुनि सुनि बचन-चातुरी
ग्वालिनि हँसि-हँसि बदन दुरावहिं।
बाल गोपाल केलि कल कीरति।
तुलसिदास मुनि गावहिं।

कृष्ण गीतावली।

रामायण का पद्य अवधी बोलचाल का बड़ा ही सुन्दर नमूना है। उसमें भावुकता कितनी है और मानसिक भावों का कितना सुन्दर चित्रण है इसको प्रत्येक सहृदय समझ सकता है। स्त्री-सुलभ प्रकृति

का इन पद्यों में ऐसा सच्चा चित्र है कि जिसको बारबार पढ़कर भी जी नहीं भरता। कृष्ण गीतावली के दोनों पद भी अपने ढंग के बड़े ही अनूठे हैं। उनमें ब्रजभाषा-शब्दों का कितना सुन्दर व्यवहार है और किस प्रकार मुहावरों की छटा है, वह अनुभव की वस्तु है। बालभाव का जैसा चित्र दोनों पदों में है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। गोस्वामीजी की लेखनी का यह महत्व है कि वे जिस भाव को लिखते हैं उसका यथातथ्य चित्रण कर देते हैं और यही महाकवि का लक्षण है। गोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में से रामायण की मुख्य भाषा अवधी रखी है। जानकीमंगल, रामलला नहछू, बरवै रामायण और पार्वतीमंगल की भाषा भी अवधी है। कृष्ण गीतावली को उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा में लिखा है। अन्य ग्रन्थों में उन्होंने बड़ी स्वतंत्रता से काम लिया है। इनमें उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार यथावसर ब्रजभाषा और अवधी दोनों के शब्दों का प्रयोग किया है।

गोस्वामीजी की यह विशेषता भी है कि उनका हिन्दी के उस समय के प्रचलित छन्दों पर समान अधिकार देखा जाता है। यदि उन्होंने दोहा-चौपाई में प्रधान-ग्रन्थ लिख कर पूर्ण सफलता पायी तो कवितावली को कवित्त और सवैया में एवं गीतावली और विनय-पत्रिका को पदों में लिखकर मुक्तक विषयों के लिखने में भी अपना पूर्ण अधिकार प्रकट किया। उनके बरवै भी बड़े सुन्दर हैं और उनकी दोहावली के दोहे भी अपूर्व हैं। इस प्रकार की क्षमता असाधारण महाकवियों में ही दृष्टिगत होती है। मैं इन ग्रन्थों के भी थोड़े से पद्य आप लोगों के सामने रखता हूँ। उनको पढ़िये और देखिये कि उनमें प्रस्तुत विषय और भावों के चित्रण में कितनी तन्मयता मिलती है और प्रत्येक छन्द में उनकी भाषा का झंकार किस प्रकार भावों के साथ झंकृत होता रहता है। विषयानुकूल शब्द-चयन में

भी वे निपुण थे। नीचे के पद्यों को पढ़कर आप यह समझ सकेंगे कि भाषा पर उनका कितना अधिकार था। वास्तव में भाषा उनकी अनुचरी ज्ञात होती है। वे उसे जब जिस ढंग में ढालना चाहते हैं ढाल देते हैं:—

४—बर दंत की पंगति कुंद कली
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै
छबि मोतिन माल अमोलन की।
घुंघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर
कुण्डल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करै तुलसी
बलि जाउँ लला इन बोलन की।

५—हाट बाट कोट ओट अटनि अगार पौरि
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्हीं अति आगि है।
आरत पुकारत सँभारत न कोऊ काहु
व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोक चल्यो भागि है।
बालधी फिरावै बार बार झहरावै झरैं
बूंदियाँ-सी लंक पघिराई पाग पागि है।
तुलसी बिलोक अकुलानी जातुधानी कहैं
चित्रहू के कपि सों निसाचर न लागि है।

—कवितावली

६—बैठी सगुन मनावति माता।
कब अइहैं मेरे बाल कुसल घर
कहहु काग फुरि बाता।
दूध भात की दोनी दैहों
सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि
नयन भरि राम लखन उर लैहौं।
अवधि समीप जानि जननी
जिय अति आतुर अकुलानी।
गनक बुलाइ पाय परि पूछत
प्रेम मगन मृदु बानी।
जेहि अवसर कोउ भरत
निकट ते समाचार लै आयो।
प्रभु आगमन सुनत तुलसी
मनो मरत मीन जल पायो।

—गीतावली

—बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु
बेद बड़ाई भानी।
निज घर की बर बात बिलोकहु
हो तुम परम सयानी।

सिव की दई संपदा देखत
श्री सारदा सिहानी।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी
सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत
हौं आयो नकवानी।
दुख दीनता दुखी इनके दुख
जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं
भीख भली मैं जानी।
प्रेम प्रसंसा विनय व्यंग-जुत
सुनि विधि को बर बानी
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन
जगत मातु मुसकानी।

८—अब लौं नसानी अब ना नसैहौं।

रामकृपा भव निसा सिरानी
जागे फिर न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिंतामनि
उर कर ते न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी
चित कंचनहिं कसैहौं।

परवस जानि हस्यों इन इन्द्रिन
निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर पन करि तुलसी
रघुपति पद कमल बसैहौं ।

—विनय पत्रिका

९—गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह ।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ।
डहकनि है उँजियरिया निसि नहिं घाम
जगत जरत अस लागइ मोंहि बिनु राम ।
अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुँदरी कँगना होइ ।
स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम ।
इनते भई सित कीरति अति अभिराम ।
बिरह आग उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ए अँखिया दोउ बैरिन देहिँ बुताइ ।
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर ।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ।

—बरवै रामायण

१०—तुलसी पावस के समै धरी कोकिला मौन ।
अब तो दादुर बोलिहैं हमैं पूछिहैं कौन ।
हृदय कपट बर बेष धरि वचन कहैं गढ़ि छोलि ।
अब के लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिये मन खोलि ।

आवत ही हरखै नहीं, नैनन नहीं सनेह ।
तुलसी तहाँ न जाइये कंचन बरसै मेह ।

तुलसी मिटै न मोह तम किये कोटि गुन ग्राम ।
हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रवि कुल रवि राम ।

अमिय गारि गारेउ गरल नारि करी करतार ।
प्रेम बैर की जननि जुग जानहिं बुध न गँवार ।

—दोहावली

ब्रजभाषा और अवधी के विशेष नियम क्या हैं, मैं इसे पहले लिख चुका हूँ । गोस्वामीजी की रचना में भी अवधी और ब्रज-भाषा के नियमों का पालन पूर-पूरा हुआ है । मैं उनकी रचना की पंक्तियों को लेकर इस बात को प्रमाणित कर सकता हूँ, किन्तु यह बाहुल्य [illegible] होगा । गोस्वामीजी की उद्धृत रचनाओं को पढ़कर आप लोग स्वयं इस बात को समझ सकते हैं कि उन्होंने किस प्रकार दोनों भाषाओं के नियमों का पालन किया । मैं उसका दिग्दर्शन मात्र ही करूँगा । युक्ति विकर्ष के प्रमाणभूत ये शब्द हैं, गरब, अरध, मूरति । कारकों का लोप इन वाक्यांशों में पाया जाता है—'बोरि कर गोरस', 'बाल रोवाइ', 'सिर धरहिं आन के', 'बचन बिरंचि हरावहिं', 'पालने पौढ़िये', 'किलकनि खानि', तुलसी भनिति', 'सोने चोंच मढैहों', 'रामलखन उर लैहौं', 'वेद बड़ाई' 'जगत मातु' । 'श', 'ण' 'त्त' इत्यादि के स्थान पर 'स', 'न', 'छ', का ब्यवहार 'सिंगारू', 'प्रसंसा', 'परबस', सिसु', 'पानि' 'भरन', 'गनक', 'लच्छि' आदि में है । पञ्चम वर्ण की जगह पर अनुस्वार का प्रयोग 'मंजुल', 'बिरंचि', 'कंचनहि' आदि में मिलेगा । शब्द के आदि के 'य', के स्थान पर 'ज' का व्यवहार

जुवति, जागु, जुगुति आदि में आप देखेंगे। संज्ञाओं और विशेषणों के अपभ्रंश के अनुसार, उकारान्त प्रयोग के उदाहरण ये शब्द हैं— कपारू, मुहुँ, मीठु, आदि। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व-प्रयोग कमनीया', 'बाता,' 'जुवति' 'रेख' इत्यादि शब्दों में हुआ है। प्राकृत शब्दों का उसी के रूप में ग्रहण तीय, नाह इत्यादि में है। ब्रजभाषा की रचना में आपको संज्ञाएँ क्रियाएँ दोनों अधिकतर ओकारान्त मिलेंगी और इसी प्रकार अवधी की संज्ञाएँ और क्रियाएँ नियमानुकूल अकारान्त पायी जायँगी। उराहनो, बहुरो, पायो, आयो, बड़ो कहब, रहब, होब, देन, राउर इत्यादि इसके प्रमाण हैं। अधिकतर तद्भव शब्द ही दोनों भाषाओं में आये हैं। परन्तु जहाँ भाषा तत्सम शब्द लाने से ही सुन्दर बनती है, वहाँ गोस्वामीजी ने तत्सम शब्दों का प्रयोग भी किया है। जैसे 'प्रिय', 'कुरूप', 'रिपु', 'अमत्य', 'पल्लव', इत्यादि। मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने अधिकता से किया है, परन्तु विशेषता यह है कि जिस भाषा में मुहावरे आये हैं उनको उसी भाषा के रूप में लिखा है। जैसे 'नयनभरि', 'मुँह लाये', 'मूड़हिं चढ़ि', 'जनम भरब', 'नकबानी आयो', 'ठकुरसुहातीं', 'बवा सो लुनिय इत्यादि। अवधी में स्त्रीलिङ्ग के साथ सम्बन्ध का चिह्न सदा "कै" आता है। गोस्वामीजी की रचना में भी ऐसा ही किया गया है, 'दूध कै माखी', 'कै छाँह', इत्यादि इसके सबूत हैं। क्रिया बनाने में विधि के साथ इकार का संयोग किया जाता है। उनकी कविता में भी यह बात मिलती है, जैसे 'भरि' 'फोरि' 'बोरि' इत्यादि। अनुप्रास के लिए तुकान्त में इस 'इ' को दीर्घ भी कर दिया जाता है। उन्होंने भी ऐसा किया है। 'देखिये, 'जानी', 'होई', इत्यादि। ऐसे ही नियम सम्बन्धी अन्य बातें भी आप लोगों को उनमें दृष्टिगत होंगी।

सूरदासजी के हाथों में पड़कर ब्रजभाषा और गोस्वामीजी की लेखनी से लिखी जाकर अवधी प्रौढ़ता को प्राप्त हो गयी। इन दोनों

भाषाओं का उच्च से उच्च विकास इन दोनों महाकवियों के द्वारा हुआ। साहित्यिक भाषा में जितना सौन्दर्य-सम्पादन किया जा सकता है इन दोनों महापुरुषों से इनकी रचनाओं में उनकी भी पराकाष्ठा हो गयी। अनुप्रासों और रस एवं भावानुकूल शब्दों का विन्यास जैसा इन कवि-कर्म्मनिपुण महाकवियों की कृति में पाया जाता है वैसा आज तक की हिन्दी भाषा की समस्त रचनाओं में नहीं पाया जाता। भविष्य में क्या होगा, इस विषय में कुछ कहना असम्भव है। "जिनको सजीव पंक्तियाँ कहते हैं" वे जितनी इन लोगों की कविताओं में मिलती हैं उतनी अब तक की किसी कविता में नहीं मिल सकीं। यदि इन लोगों की शब्द-माला में लालित्य नर्तन करता मिलता है तो भाव सुधा-वर्षण करते हैं। जब किसी भाषा की कविता प्रौढ़ता को प्राप्त होती है उस समय उसमें व्यंजना की प्रधानता हो जाती है। इन लोगों की अधिकांश रचनाओं में भी यही बात देखी जाती है—गोस्वामीजी के विषय में योरोपीय या अन्य विद्वानों की जो सम्मतियाँ हैं उनमें से कुछ सम्मतियों को मैं नीचे लिखता हूँ। उनके पढ़ने से आप लोगों को ज्ञात होगा कि गोस्वामीजी के विषय में विदेशी विद्वान् भी कितनी उत्तम सम्मति और कितना उच्च भाव रखते हैं। प्रोफेसर मोल्टन यह कहते हैं।

"मानव प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर ग्रहणशीलता, करुणा से लेकर आनन्द तक के सम्पूर्ण मनोविकारों के प्रति संवेदन-शीलता, स्थान-स्थान पर मध्यमश्रेणी का भाव जिस पर हँसते हुए महासागर के अनन्त बुद्बुदों की तरह परिहास क्रीड़ा करता है, कल्पना-शक्ति का स्फुरण जिसमें अनुभव और सृष्टि दोनों एक ही मानसिक क्रिया जान पड़ती हैं, सामञ्जस्य और अनुपात की वह धारणा जो जिसे ही स्पर्श करेगी उसे ही कलात्मक बना देगी; भाषा पर वह अधिकार जो

विचार का अनुगामी है और वह भाषा जो स्वयं ही सौन्दर्य है, ये सब काव्य-स्फूर्ति के पृथक्-पृथक् तत्व जिसमें से एक भी विशेष मात्रा में विद्यमान होकर कवि की सृष्टि कर सकता है, तुलसीदास में सम्मिलित रूप से पाये जाते हैं" ।*

एक दूसरे सज्जन की यह सम्मति है—

'हम पैगम्बर (ईश्वरीय दूत) को उसके कार्यों के परिणामों की कसौटी पर ही कसते हैं। जब मैं यह कहता हूँ कि पूरे नौ करोड़ मनुष्य अपने नैतिक और धार्मिक आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को तुलसीदास की कृति ही से ग्रहण करते हैं तो अत्युक्ति नहीं करता, मेरा यह अनुमान साधारण जनसंख्या से कुछ कम ही है। वर्त्तमान समय में उनका जितना प्रभाव है यदि उसके आधार पर हम अपना

---

* Grasp of human nature the most profound, the most subtle; responsivenesi to emotion throughout the whole seale rom tragic pathes to rollicking jollity, with a middle range, over which plays a humour like the inn umerable twinklings of a laughing ocean, powers of imagination instinctive that to percieve and create seem the same mental act; a sense of symmetry and proportion that will make everything it touches into art; mastery of language that is the servant of thought and language that is the beauty in itself; all these seperate elements of poetic force, any one of which in conslcuous degree might make a poet, are in Tulsidasa found in complete combination. Pro. Moultons 'World Literature' P. 166.

निर्णय स्थिर करें तो वे एशिया के तीन या चार महान लेखकों में परिगणित होंगे।" *

डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन का यह कथन है:—

"भारतवर्ष के इतिहास में तुलसीदास का बहुत अधिक महत्व है। उनके काव्य की साहित्यिक उत्कृष्टता की ओर न ध्यान दें तो भी भागलपुर से लेकर पंजाब तक और हिमालय से लेकर नर्मदा तक समस्त श्रेणियों के लोगों का उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण रखना ध्यान देने योग्य बात है। तीन सौ से भी अधिक वर्षों से उनके काव्य का हिन्दू जनता की बोलचाल तथा उसके चरित्र और जीवन से सम्बन्ध है। वह उनकी कृति को केवल उसके काव्यगत सौन्दर्य के लिए ही नहीं चाहती है, उसे श्रद्धा की दृष्टि से ही नहीं देखती है, उसे धार्मिक ग्रंथ के रूप में पूज्य समझती है। दस करोड़ जनता के लिए वह बाइबिल (Bible) के समान है और वह उसे उतना ही ईश्वरप्रेरित समझती है जितना अंग्रेजी पादरी बाइबिल को समझता है। पंडित [illegible] भले ही वेदों की चर्चा करें और उनमें से थोड़े से लोग उनका अध्ययन भी करें, भले ही कुछ लोग पुराणों के प्रति श्रद्धा-भक्ति भी प्रदर्शित करें किन्तु पठित वा अपठित विशाल जनसमूह तो तुलसी-कृत रामायण ही से अपने आचार-धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है। हिन्दुस्थान के लिए यह

---

*"We judge of a prophet by his fruits and I give much less than usual estimate when I say that fully ninty millions of people have heard the theories of moral and religious conduct upon his writings. If we take the influence exercised by him at present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia."

J. R. A. S, July 1930 P. 455.

वास्तव में सौभाग्य की बात है, क्योंकि उसने देश को शैव धर्म के अनाचरणीय क्रिया-कलाप से सुरक्षित रक्खा है। बंगाल जिस दुर्भाग्य के चक्कर में पड़ गया उससे उत्तरी भारत के मूल त्राण करनेवाले तो रामानन्द थे, किन्तु महात्मा तुलसीदास ही का यह काम था कि उन्होंने पूर्व और पश्चिम में उनके मत का प्रचार किया और उनमें स्थायिता का संचार कर दिया।" *]

---

*"The importance of Tulsidas in the history of India can not be overrated. Pulling the literary merits of his work out of the question, the fact of its universai acceptance by all classes, Bhagalpur to the Punjab and from the Himalaya to the Narmada is surely worthy of note. It has been interwoven into the life, character, and speech of the Hindu population for more than three hundred years, and is not only loved and admired hy them for its poetic beauty, but is reverened by them as their scriptures. It is the bible of a hundred millions of people, and is looked upon by them as much inspired as the bible is considered by the English clergymen. Pandits may talk of the Vedas and of the Upnishadas and a few may even study them, others may say they pin their faith on the Puranas but to the vast majority of the people of Hindustan, learned and unlearned alike, their soul room of conduct is the so called Tulsikrit Ramayan. It is indeed fortunate that this is so, for it has saved the country from the tantric obscenities of Shaivism. Rama Nanda was the original saviour of Upper India from the fate which has befallen Bengal, but, Tulsdias was the great apostle who carried his doctrine east and west and made it an abiding faith.''—

Modern Vernaular Literature of Hindustan, 42 43. P.

कविवर केशवदास

हिन्दी-संसार ने सूरदासजी और गोस्वामीजी के बाद का स्थान कविवर केशवदासजी को ही दिया है। मैं भी इसी विचार का हूँ।

उनको 'उडुगन' कहा गया हैं। यदि वे उडुगन हैं तो प्रभात कालिक शुक्र (कवि) के समान प्रभा-विकीर्णकारी हैं। कविकर्म्म [illegible] पूर्ण ज्योति रीति काल के प्रभात काल में केशवदासजी से ही हिन्दी-संसार को मिली। सब बातों पर विचार करने से यह स्वीकार करना पड़ता है कि साहित्य सम्बन्धी समस्त अंगों की पूर्ति पहले पहल केशवदासजी ने ही की। इनके पहले कुछ विद्वानों ने रीति-ग्रन्थों की रचना का सूत्र-पात किया था, किन्तु यह कार्य केशवदासजी की प्रतिभा से ही पूर्णता को प्राप्त हुआ। इतिहास बतलाता है कि आदि में कृपाराम ने ही 'हित-तरंगिणी' नामक रस-ग्रन्थ की रचना की। इनका काल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने समय के पहले के कुछ सुकवियों की कुछ रचनाओं की भी चर्चा की हैं। किन्तु वे ग्रन्थ अप्राप्य हैं। ग्रन्थकारों के नाम तक का पता नहीं मिलता। इन्हीं के समसाम-यिक गोप नामक कवि और मोहनलाल मिश्र थे। इनमें से गोप नामक कवि ने, रामभूषण और अलंकार-चन्द्रिका नामक ग्रन्थों की रचना की

है। नाम से ज्ञात होता है कि ये दोनों ग्रन्थ अलंकार के होंगे। किन्तु ये ग्रन्थ भी नहीं मिलते। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ कैसे थे, साधारण या विशद। मेरा विचार है कि वे साधारण ग्रन्थ ही थे। अन्यथा इतने शीघ्र लुप्त न हो जाते। मोहनलाल मिश्र ने 'शृङ्गार-सागर' नामक ग्रंथ की रचना की थी। ग्रन्थ का नाम बतलाता है कि वह रस-सम्बन्धी ग्रन्थ होगा। इन लोगों के उपरान्त केशवदासजी ही कार्य-क्षेत्र में आते हैं। वे संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वंश-परम्परा से उनके कुल में संस्कृत के उद्भट विद्वान् होते आते थे। उनके पितामह पंडित कृष्णदत्त मिश्र संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के रचयिता थे। उनके पिता पंडित काशीनाथ भी संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान थे। उनके बड़े भाई पंडित बलभद्र मिश्र संस्कृत के विद्वान् तो थे ही, हिन्दी भाषा पर भी बड़ा अधिकार रखते थे। इनका बनाया हुआ नखशिख-सम्बन्धी ग्रंथ अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। ऐसे साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों के वंश में जन्म ग्रहण करके केशवदासजी का हिन्दी भाषा के रीति-ग्रन्थों के निर्माण में विशेष सफलता लाभ करना आश्चर्यजनक नहीं। वे संकोच के साथ हिन्दी-क्षेत्र में उतरे, जैसा निम्नलिखित दोहे से प्रकट होता है:—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास।

परन्तु जिस विषय को उन्होंने हाथ में लिया उसको पूर्णता प्रदान की। उनके बनाये हुए 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक ग्रन्थ रीति-ग्रन्थों के सिरमौर हैं। पहले भी साहित्य विषय के कुछ ग्रन्थ बने थे और उनके उपरान्त भी अनेक रीतिग्रन्थ लिखे गये, परन्तु अबतक प्रधानता उन्हीं के ग्रन्थों को प्राप्त है। जब साहित्य-शिक्षा का कोई जिज्ञासु हिन्दी क्षेत्र में पदार्पण करता है, तब उसको 'रसिक-प्रिया' का

रसिक और 'कविप्रिया' का प्रेमिक अवश्य बनना पड़ता है। इससे इन दोनों ग्रन्थों की महत्ता प्रकट है। जिन्होंने इन दोनों ग्रन्थों को पढ़ा है वे जानते हैं कि इनमें कितनी प्रौढ़ता है। रीति-सम्बन्धी सब विषयों का विशद वर्णन थोड़े में जैसा इन ग्रन्थों में मिलता है, अन्यत्र नहीं। 'रसिक-प्रिया' में शृङ्गार रस सम्बन्धी समस्त विशेषताओं का उल्लेख बड़े पाण्डित्य के साथ किया गया है। कविप्रिया वास्तव में कवि-प्रिया है। कवि के लिए जितनी बातें ज्ञातव्य हैं उनका विशद निरूपण इस ग्रन्थ में है। मेरा विचार है कि केशवदासजी की कवि-प्रतिभा का विकास जैसा इन ग्रन्थों में हुआ, दूसरे ग्रन्थों में नहीं। क्या भाषा, क्या भाव, क्या शब्द-विन्यास, क्या भाव-व्यञ्जना, जिस दृष्टि से देखिये ये दोनों ग्रन्थ अपूर्व हैं। उन्होंने इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त और ग्रन्थों की भी रचना की है। उनमें सर्वप्रधान रामचन्द्रिका है। यह प्रबन्ध-काव्य है। इस ग्रन्थ के संवाद ऐसे विलक्षण हैं जो अपने उदाहरण आप हैं। इस ग्रन्थ का प्रकृति-वर्णन भी बड़ा ही [illegible]विक है।

कहा जाता है कि हिन्दी-संसार के कवियों ने प्रकृति-वर्णन के विषय में बड़ी उपेक्षा की है। उन्होंने जब-जब प्रकृति-वर्णन किया है तब उससे उद्दीपन का कार्य ही लिया है। प्रकृति में जो स्वाभाविकता होती है, प्रकृतिगत जो सौन्दर्य होता है उसमें जो विलक्षणताएँ और मुग्ध-कारिताएँ पायी जाती हैं उनका सच्चा चित्रण हिन्दी-साहित्य में नहीं पाया जाता। किसी नायिका के विरह का अवलम्बन करके ही हिन्दी कवियों और महाकवियों ने प्रकृतिगत विभूतियों का वर्णन किया है। सौन्दर्य-सृष्टि के लिए उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण कभी नहीं किया। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता का अंश है। कवि-कुलगुरु-वाल्मीकि एवं कविपुंगव कालिदास की रचनाओं में जैसा उच्च कोटि का स्वाभाविक प्रकृति-वर्णन मिलता है, निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में उसका अभाव है। यदि हिन्दी-संसार के इस कलंक को कोई कुछ धोता है तो

वे कविवर केशवदास के ही कुछ प्राकृतिक वर्णन हैं और वे रामचन्द्रिका ही में मिलते हैं। मैं आगे चलकर इस प्रकार के पद्य उद्धृत करूँगा। यह कहा जाता है कि प्रबंध-काव्यों को जितना सुशृङ्खलित होना चाहिये रामचंद्रिका वैसी नहीं है। उसमें स्थान-स्थान पर कथा भागों की शृंखला टूटती रहती है। दूसरी यह बात कही जाती है कि जैसी भावुकता और सहृदयता चाहिये, वैसी इस ग्रन्थ में नहीं मिलती। ग्रन्थ बड़ा क्लिष्ट भी है। एक-एक पद्यों का तीन-तीन, चार-चार अर्थ प्रकट करने की चेष्टा करने के कारण इस ग्रन्थ की बहुत सी रचनाएँ बड़ी ही गूढ़ और जटिल हो गयी हैं जिससे उनमें प्रसाद गुण का अभाव है। इन विचारों के विषय में मुझे यह कहना है कि किसी भी ग्रन्थ में सर्वाङ्गपूर्णता असम्भव है। उसमें कुछ न कुछ न्यूनता रह ही जाती है। संस्कृत के बड़े-बड़े महाकाव्य भी निर्दोष नहीं रहे। इसके अतिरिक्त आलोचकों की प्रकृति भी एक सी नहीं होती। रुचि-भिन्नता के कारण किसी को कोई विषय प्यारा लगता है और कोई उसमें अरुचि प्रकट करता है। प्रवृत्ति के अनुसार ही आलोचना भी होती है इसलिए सभी आलोचनाओं में यथार्थता नहीं होती। उनमें प्रकृतिगत भावनाओं का विकास भी होता है। इसीलिए एक ही ग्रन्थ के विषय में भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ दृष्टिगत होती हैं। केशवदासजी की रामचन्द्रिका के विषय में भी इस प्रकार की विभिन्न आलोचनाएँ हैं। किसी के विशेष विचारों के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। किन्तु देखना यह है कि रामचन्द्रिका के विषय में उक्त तर्कनाएँ कहाँ तक मान्य हैं। प्रत्येक ग्रन्थकार का कुछ उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य के आधार पर ही उसकी रचना आधारित होती है। केशवदासजी की रचनाओं में जिन्हें प्रसाद गुण देखना हो वे 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' को देखें। उनमें जितनी सहृदयता है, उतनी ही सरसता है। जितनी सुन्दर उनकी शब्द विन्यास-प्रणाली है, उतनी ही मधुर है उनकी भाव-व्यञ्जना। रामचन्द्रिका की रचना

पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए हुई है और मैं यह दृढ़ता से कहता हूँ कि हिन्दी-संसार में कोई प्रबन्ध-काव्य इतना पाण्डित्यपूर्ण नहीं है। मैं पहले कह चुका हूँ कि वे संस्कृत के पूर्ण विद्वान् थे। उनके सामने शिशुपाल-वध और' 'नैषध' का आदर्श था। वे उसी प्रकार का काव्य हिन्दी में निर्माण करने के उत्सुक थे। इसीलिए रामचन्द्रिका अधिक गूढ़ है। साहित्य के लिए सब प्रकार के ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। यथा-स्थान सरलता और गूढ़ता दोनों वांछनीय हैं। यदि लघुत्रयी आदरणीय है तो वृहत्रयी भी। रघुवंश को यदि आदर की दृष्टि से देखा जाता है तो नैषध को भी। यद्यपि दोनों की रचना-प्रणाली में बहुत अधिक अन्तर है। प्रथम यदि मधुर भाव-व्यञ्जना के लिए आदरणीय है तो द्वितीय अपनी गम्भीरता के लिए। शेक्सपियर और मिल्टन की रचनाओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। केशवदासजी यदि चाहते तो 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की प्रणाली ही रामचन्द्रिका में भी ग्रहण कर सकते थे। परन्तु उनको यह इष्ट था कि उनकी एक ऐसी रचना भी हो जिसमें गम्भीरता हो और जो पाण्डित्याभिमानी को भी पाण्डित्य-प्रकाश का अवसर दे, अथच उसकी विद्वत्ता को अपनी गम्भीरता की कसौटी पर कस सके। इस बात को हिन्दी के विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। प्रसिद्ध कहावत है—'कवि को दीन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई।' एक दूसरे कविता-मर्मज्ञ कहते हैं:—

उत्तम पद कवि गंग को, कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीरता, सूर तीन गुन धीर॥

इन बातों पर दृष्टि रखकर रामचन्द्रिका की गम्भीरता इस योग्य नहीं कि उस पर कटाक्ष किया जाय। जिस उद्देश्य से यह ग्रंथ लिखा गया है, मैं समझता हूँ, उसकी पूर्ति इस ग्रंथ द्वारा होती है। इस ग्रंथ

के अनेक अंश सुन्दर, सरस और हृदयग्राही भी हैं और उनमें प्रसाद गुण भी पाया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह गम्भीरता के लिए ही प्रसिद्ध है। मैं समझता हूँ कि हिन्दी-संसार में एक ऐसे ग्रंथ की भी आवश्यकता थी जिसकी पूर्त्ति करना केशवदासजी का ही काम था। अब केशवदासजी के कुछ पद्य मैं नीचे लिखता हूँ। इसके बाद भाषा और विशेषताओं के विषय में आप लोगों की दृष्टि उनकी ओर आकर्षित करूँगा—

१—भूषण सकल घनसार हो के घनश्याम,
कुसुम कलित केश रही छवि छाई सी।
मोतिन की लरी सिरकंठ कंठमाल हार,
और रूप ज्योति जात हेरत हेराई सी।
चंदन चढ़ाये चारु सुन्दर शरीर सब,
राखी जनु सुभ्र सोभा बसन बनाई सी।
शारदा सी देखियत देखो जाइ केशोराइ,
ठाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी।

२—मन ऐसो मन मृदु मृदुल मृणालिका के,
सूत कैसो सुर ध्वनि मननि हरति है।
दाख्यो कैसो बीज दाँत पाँत से अरुण ओंठ,
केशोदास देखि दृग आनँद भरति है।
एरी मेरी तेरी मोहिं भावत भलाई तातें,
बूझत हौं तोहि और बूझति डरति है।
माखन सी जीभ मुखकंज सी कोमलता में,
काठ सी कठेठी बात कैसे निकरति है।

२—किधौं मुख कमल ये कमला की ज्योति होति,
किधौं चारु मुखचन्द्र चन्द्रिका चुराई है।
किधौं मृगलोचन मरीचिका मरीचि कैधौं,
रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है।
सौरभ की सोभा की दलन घन दामिनी की,
केशव चतुर चित ही की चतुराई है।
एरी गोरी भोरी तेरी थोरी थोरी हाँसी मेरे,
मोहन की मोहिनी की गिरा की गुराई है।

४—बिधि के समान हैं बिमानी कृत राजहंस,
बिबुध बिबुध जुत मेरु सो अचल है।
दीपत दिपत अति सातो दीप दीपियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है।
सागर उजागर को बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय किधौं सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ पथ गामी गंगा कैसो जल है।

५—तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल लकुच बकुल कुल केर नारियर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै।
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन।

६—चढ़ो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुणमुख ।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन ।

७—अरुण गात अति प्रात, पद्मिनी प्राणनाथ भय ।
मानहुँ केशवदास, कोकनद कोक प्रेममय ।
परिपूरण सिंदूर पूर, कैधौं मंगल घट ।
किधौं शक्र को क्षत्र, मढ़्यो माणिक मयूख पट ।
कै शोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को,
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को ।

८—श्रीपुर में बनमध्य हौं, तू मग करी अनीति ।
कहि मुँदरी अब तियनु की, को करि है परतीति ।

९—फलफूलन पूरे तरुवर रूरे कोकिल कुल कलरव बोलैं ।
अति मत्त मयूरी पियरस पूरी बनबन प्रति नाचत डोलैं ।
सारी शुक पंडित गुनगन मंडित भावनमय अर्थ बखानैं ।
देखे रघुनायक सीय सहायक मनहुँ मदन रति मधुजानैं

१०—मन्द मन्द धुनि सों घन गाजै ।
तूर तार जनु आवझ बाजैं ।
ठौर ठौर चपला चमकैं यों ।
इन्द्रलोक तिय नाचति है ज्यों ।
सोहैं घन स्यामल घोर घने ।
मोहैं तिनमें बक पाँति मने ।
शंखावलि पी बहुधा जलस्यों ।
मानो तिनको उगिलै बलस्यों ।

शोभा अति शक्र शरासन में।
　　नाना दुति दीसति है घन में।
रत्नावलि सी दिवि द्वार भनो।
　　बरखागम बाँधिय देव मनो।
घन घोर घने दसहूं दिसि छाये।
　　मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आये।
अपराध बिना छिति के तन ताये।
　　तिन पीड़न पीड़ित ह्वै उठि धाये।
अति गाजत बाजत दुंदुभि मानो।
　　निरघात सबै पविपात बखानो।
धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।
　　सर जाल बहै जलधार बृथाहीं।
भट चातक दादुर मोर न बोले।
　　चपला चमकै न फिरै खग खोले।
दुतिवन्तन को विपदा बहु कीन्हीं।
　　धरनी कहं चन्द्रवधू धर दीन्ही।

११—सुभसर सोभै, मुनि मन लोभै।
　　सरसिज फूले, अलि रस भूले।
जलचर डोलैं, बहु खग बोलैं।
　　वरणि न जाहीं, उर उरमाहीं।

१२—आरक्त पत्रा सुभ चित्र पुत्री
　　मनो बिराजै अति चारु वेषा।
सम्पूर्ण सिंदूर प्रभा बसै धौं
　　गणेश-भाल-स्थल चन्द्र-रेखा।

केशवदासजी की भाषा के विषय में विचार करने के पहले मैं यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि इनके ग्रन्थों, में जो मुद्रित होकर प्राप्त होते हैं, यह देखा जाता है कि एकही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इससे किसी सिद्धांत पर पहुँचना बड़ा दुस्तर है। फिर भी सब बातों पर विचार करके और व्यापक प्रयोग पर दृष्टि रखकर मैं जिस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ उसको आप लोगों के सामने प्रकट करता हूँ। केशवदासजी के ग्रन्थों की मुख्य भाषा ब्रजभाषा है। परन्तु बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग भी उनमें पाया जाता है। यह स्वाभाविकता है। जिस प्रान्त में वे रहते थे उस प्रान्त के कुछ शब्दों का उनकी रचना में स्थान पाना आश्चर्यजनक नहीं। इस दोष से कोई कवि या महाकवि मुक्त नहीं। बुन्देलखण्डी भाषा लगभग ब्रजभाषा ही है और उसकी गणना भी पश्चिमी हिन्दी में ही है। हाँ, थोड़े से शब्दों या प्रयोगों में भेद अवश्य है। परन्तु इससे ब्रजभाषा की प्रधानता में कोई अन्तर नहीं आता। केशवदासजी ने यथास्थान बुन्देलखण्डी शब्दों का जो अपने ग्रन्थ में प्रयोग किया है मेरा विचार है कि इसी दृष्टि से। ब्रजभाषा के जो नियम हैं वे सब उनकी रचना में पाये जाते हैं। इसलिए उन नियमों पर उनकी रचना को कसना व्यर्थ विस्तार होगा। मैं उन्हीं बातों का उल्लेख करूँगा जो ब्रजभाषा से कुछ भिन्नता रखती हैं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि केशवदासजी संकृत के पंडित थे। ऐसी अवस्था में उनका संस्कृत के तत्सम शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने के लिए सचेष्ट रहना स्वाभाविक है। वे अपनी रचनाओं में यथाशक्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों को शुद्ध रूप में लिखना ही पसन्द करते हैं, यदि कोई कारण-विशेष उनके सामने उपस्थित न हो जावे। एक बात और है। वह यह कि बुन्देलखण्ड में णकार और शकार का प्रयोग प्रायः बोल-चाल में अपने शुद्ध रूप में किया जाता है। इसलिए भी उन्होंने संस्कृत के उन तत्सम शब्दों को जिनमें णकार और शकार आते

हैं प्रायः शुद्ध रूप में ही लिखने की चेष्टा की है। उसी अवस्था में उनको बदला है जब उनके परिवर्तन से या तो पद्य में कोई सौंदर्य आता है या अनुप्रास की आवश्यकता उन्हें विवश करती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ब्रजभाषा और अवधी के नियमों का पूरा पालन किया है। किन्तु जब उन्होंने किसी अन्य प्रान्त का शब्द लिया तो उसको उसी रूप में लिखा। वे रामायण के अरण्य कांड में एक स्थान पर रावण के विषय में लिखते हैं:—

'भणिया' शब्द बुन्देलखण्डी है। 'इत उत चितै चला भणिआई'। उसका अर्थ है 'चोर'। 'भणिआई' का अर्थ है 'चोरी'। गोस्वामीजी चाहते तो उसको 'भनिआई' अवधी के नियमानुसार बना लेते, परन्तु ऐसा करने में अर्थ-बोध में बाधा पड़ती। एक तो शब्द दूसरे प्रान्त का, दूसरे यदि वह अपने वास्तव रूप में न हो तो उसका बोध सुलभ कैसे होगा? इसलिए उसका अपने मुख्य रूप में लिखा जाना ही युक्ति-संगत था। गोस्वामीजी ने ऐसा ही किया। केशवदासजी की दृष्टि भी इसी बात पर थी, इसीलिए उन्होंने वह मार्ग ग्रहण किया जिसकी चर्चा मैंने अभी की है। कुछ पद्य मैं लिखकर अपने कथन को पुष्ट करना चाहता हूँ। देखिये:—

१—'सब शृंगार मनो रति मन्मथ मोहै।
२—सबै सिँगार सदेह सकल सुख सुखमा मंडित।
३—मनो शची विधि रची विविध विधि बर्णत पंडित।
४—जानै को केसव केतिक बार मैं सेस के सीसन दीन्ह उसासी।

ऊपर की दो पंक्तियों में एक में 'शृङ्गार' और दूसरी में 'सिँगार' आया है। 'शृंगार' संस्कृत का तत्सम शब्द है। अतएव अपने सिद्धा-

न्तानुसार उसको उन्होंने शुद्ध रूप में लिखा है, क्योंकि शुद्ध रूप में लिखने से छन्द की गति में कोई बाधा नहीं पड़ी। परन्तु दूसरी पंक्ति में उन्होंने उसका वह रूप लिखा है जो ब्रजभाषा का रूप है। दोनों पंक्तियाँ एक ही पद की हैं। फिर उन्होंने ऐसा क्यों किया ? कारण स्पष्ट है। 'शृङ्गार' में पाँच मात्राएँ हैं और 'सिंगार' में चार मात्राएँ हैं। दूसरे चरण में 'शृङ्गार' खप नहीं सकता था। क्योंकि एक मात्रा अधिक हो जाती। इसलिए उन्हें उसको ब्रजभाषा ही के रूप में रखना पड़ा। अपने-अपने नियमानुसार दोनों रूप शुद्ध हैं। चौथे पद्य में उन्होंने अपने नाम को दन्त्य 'स' से ही लिखा, यद्यपि वे अपने नाम में तालव्य 'श' लिखना ही पसन्द करते हैं, यहाँ भी यह प्रश्न होगा कि फिर कारण क्या ? इसी पंक्ति में 'सेस' और 'सीसन' शब्द भी आये हैं जिनका शुद्ध रूप 'शेष' और 'शीशन' है। इस शुद्ध रूप में लिखने में भी छन्द की गति में कोई बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि मात्रा में न्यूनाधिक्य नहीं। फिर भी उन्होंने उसको ब्रजभाषा के रूप में ही लिखा। इसका कारण भी विचारणीय है, वास्तव बात यह है कि उनके कवि हृदय ने अनुप्रास का लोभ संवरण नहीं किया। अतएव उन्होंने उनको ब्रजभाषा के रूप ही में लिखना पसंद किया। 'केशव' 'सेस' और 'सीसन' ने दन्त्य 'स' के सहित 'उसासी' के साथ आकर जो स्वारस्य उत्पन्न किया है। वह उन शब्दों के तत्सम रूप में लिखे जाने से नष्ट हो जाता। इसलिए उनको इस पद्य में तत्सम रूप में नहीं देख पाते। ऐसी ही और बातें बतलायी जा सकती हैं कि जिनके कारण केशवदासजी एक ही शब्द को भिन्न रूपों में लिखते हैं। इससे यह न समझना चाहिये कि उनका कोई सिद्धान्त नहीं, वे जब जिस रूप में चाहते हैं किसी शब्द को लिख देते हैं। मेरा विचार है कि उन्होंने जो कुछ किया है नियम के अन्तर्गत ही रह कर किया है। दो ही रूप उनकी रचना में आते हैं या तो संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में आता है अथवा ब्रजभाषा के

तद्भव रूप में, और यह दोनों रूप नियम के अन्तर्गत हैं। ऐसी अवस्था में यह सोचना कि शब्द-व्यवहार का उनका कोई सिद्धान्त नहीं, युक्ति-संगत नहीं।

मैंने यह कहा है कि उनके ग्रंथ की मुख्य भाषा ब्रजभाषा ही है। इसका प्रमाण समस्त उद्धृत पद्यों में मौजूद है। उनमें अधिकांश ब्रजभाषा के नियमों का पालन हैं। युक्त-विकर्ष, कारक-लोप, 'णकार', 'शकार', 'क्षकार' के स्थान पर 'न', 'स', और 'छ' का प्रयोग, प्राकृत भाषा के प्राचीन शब्दों का व्यवहार, पंचम वर्ण के स्थान पर अधिकांश अनुस्वार का ग्रहण इत्यादि जितनी विशेष बातें ब्रजभाषा की हैं वे सब उनकी रचना में पायी जाती हैं। उद्धृत पद्यों में से पहले, दूसरे और तीसरे नम्बर पर लिखे गये कवित्तों में तो ब्रजभाषा की सभी विशेषताएँ मूर्त्तिमन्त होकर विराजमान हैं। हाँ, कुछ तत्सम शब्द अपने शुद्ध रूप में अवश्य आये हैं। इसका हेतु मैं ऊपर लिख चुका हूँ। उनकी रचना में 'गौरमदाइन', स्यों', 'बोक', 'बारोठा', 'समदौ', 'भाड़्यो' आदि शब्द भी आते हैं।

नीचे लिखी हुई पंक्तियाँ इसके प्रमाण हैं:—

१—देवनस्यों जनु देवसभा शुभ सीय स्वयम्बर देखन आई।

२—"दुहिमा *समदौ* **सुख पाय अबै।"**

३—कहूं भांड़ भांड़्यो करैं मान पावैं।

४—कहूं बोक बाँके कहूँ मेष सूरे।

५—धनु है यह *गौरमदाइन* **नाहीं।**

६—'*बारोठे* **को चार कहि करि केशव अनुरूप'।**

ये बुन्देलखण्डी शब्द हैं। उनके प्रान्त की बोलचाल में ये शब्द प्रचलित हैं। इसलिए विशेष स्थलों पर उनको इस प्रकार के शब्दों का

प्रयोग करते देखा जाता है। किन्तु फिर भी इस प्रकार के प्रयोग मर्य्यादित हैं और संकीर्ण स्थलों पर ही किये गये हैं। इसलिए मैं उनको कटाक्ष योग्य नहीं मानता। उनकी रचना में एक विशेषता यह है कि वे तत्सम शब्दों को यदि किसी स्थान पर युक्त-विकर्ष के साथ लिखते हैं तो भी उसमें थोड़ा ही परिवर्तन करते हैं। जब उनको क्रिया का स्वरूप देते हैं तो भी यही प्रणाली ग्रहण करते हैं। देखिये:—

१—इनहीं के तप तेज तेज बढ़िहै तन *तूरण*।

इनहीं के तप तेज होहिंगे मंगल *पूरण*।

२—रामचन्द्र सीता सहित *शोभत* हैं तेहि ठौर।

३—मनो शची विधि रची विविध बिधि *बर्णत* पंडित।

'तूरण', 'पूरण', 'शोभत', 'बर्णत' इत्यादि शब्द इसके प्रमाण हैं। ब्रजभाषा के नियमानुसार इनको 'तूरन', 'पूरन', 'सोभत', 'बरनत' लिखना चाहिये था। किन्तु उन्होंने इनको इस रूप में नहीं लिखा। इसका कारण भी उनका संस्कृत तत्सम शब्दानुराग है। बुन्देलखण्डी भाषा में 'हुतो' एकवचन पुल्लिग में और 'हते' बहुवचन पुल्लिग में बोला जाता है। इनका स्त्रीलिङ्ग रूप 'हतो' और 'हती' होगा। ब्रजभाषा में ये दोनों तो लिखे जाते ही हैं, 'हुतो' और 'हुती' में भी लिखा जाता है। वे भी दोनों रूपों का व्यवहार करते हैं, जैसे, 'सुता बिरोचन की हुती दीरघजिह्वा नाम।'

उनको अवधी के 'इहाँ', 'उहाँ', 'दिखाउ', 'रिझाउ', 'दीन', 'कीन' इत्यादि का प्रयोग करते भी देखा जाता है। वे 'होइ' भी लिखते हैं, 'होय' भी, देखिये:—

१—एक इहाँऊ उहाँ अतिदीन सुदेत दुहूँ दिसि के जन गारी

२—प्रभाउ आपनो दिखाउ छोंड़ि बाजि भाइ कै।

३—रिझाउ रामपुत्र मोहिं राम लै छुड़ाइ के ।

४—अन्न देइ सीख देइ राखि लेइ प्राण जात ।

५—हँसि बंधु त्यों दृगदीन । श्रुति नासिका बिनु कौन ।

६—कीधौं वह लक्ष्मण होइ नहीं ।

इसका कारण यही मालूम होता है कि उस काल में हिन्दी भाषा के बड़े-बड़े कवियों का विचार साहित्यिक भाषा को व्यापक बनाने की ओर था। इसलिए वे लोग कम से कम अवधी और ब्रजभाषा में कतिपय आवश्यक और उपयुक्त शब्दों के व्यवहार में कोई भेद नहीं रखना चाहते थे। इस काल के महाकवि सूर, तुलसी और केशव को इसी ढंग में ढला देखा जाता है। उन्होंने अपनी रचना एक विशेष भाषा में ही, अर्थात् अवधी या ब्रजभाषा में की है। परन्तु एक दूसरे में इतना विभेद नहीं स्वीकार किया कि उनके प्रचलित शब्दों का व्यवहार विशेष अवस्थाओं और संकीर्ण स्थलों पर न किया जाय। इन महाकवियों के अतिरिक्त उस काल के अन्य कवियों का झुकाव भी इस ओर देखा जाता है। उनकी रचनाओं को पढ़ने से यह बात ज्ञात होगी।

केशवदासजी की रचनाओं में पांडित्य कितना है इसके परिचय के लिए आप लोग उद्धृत पद्यों में से चौथे पद्य को देखिये। उसमें इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग है जो दो अर्थ रखते हैं। मैं उनको स्पष्ट किये देता हूँ। चौथे पद में उन्होंने महाराज दशरथ को विधि के समान कहा है, क्योंकि दोनों हीं 'विमानी कृत राजहंस' हैं। इसका पहला अर्थ जो विधिपरक है यह है कि राजहंस उनका वाहन (विमान) है। दूसरा अर्थ जो महाराज दशरथपरक है, यह है कि उन्होंने राजाओं की आत्मा (हंस) को मान-

रहित बना दिया, अर्थात् सदा वे उनके चित्त पर चढ़े रहते हैं। सुमेरु पर्वत अचल है। दूसरे पद्य में उसी के समान उन्होंने महाराज दशरथ को भी अचल बनाया। भाव इसका यह है कि वे स्वकर्त्तव्य-पालन में दृढ़ हैं। दूसरी बात यह है कि यदि वह विविध 'विबुध-जुत' हैं, अर्थात् विविध देवता उस पर रहते हैं, तो महाराज दशरथजी के साथ विविध विद्वान् रहते हैं। 'विबुध' का दोनों अर्थ है देवता और विद्वान्। दूसरे चरण में 'सुदक्षिणा' शब्द का दो अर्थ है। राजा दशरथ को अपने पूर्व पुरुष 'दिलीप' के समान बनाया गया है। इस उपपत्ति के साथ कि यदि उनके साथ उनकी पत्नी सुदक्षिणा थीं, जिनका उनको बल था, तो उनको भी सुन्दर दक्षिणा का अर्थात् सत्पात्र में दान देने का बल है। तीसरे चरण में उनको सागर के समान कहा है, इसलिए कि दोनों ही 'बाहिनी' के पति और गम्भीर हैं। 'बाहिनी' का अर्थ सरिता और सेना दोनों है। इसी चरण में उनको सूर्य के समान अचल कहा है; इस कारण कि 'छनदान प्रिय' दोनों हैं। इसलिए कि महाराज दशरथ को तो क्षण-क्षण अथवा पर्व-पर्व पर दान देना प्रिय है और सूर्य 'छनदा' (क्षणदा) न-प्रिय है अर्थात् रात्रि उसको प्यारी नहीं है। चौथे चरण में महाराज दशरथ को उन्होंने गंगा-जल बनाया है, क्योंकि दोनों भगीरथ-पथ-गामी हैं। महाराज दशरथ के पूर्व पुरुष महाराज भगीरथ थे, अतएव उनका भगीरथ-पथावलम्बी होना स्वाभाविक है। इस अंतिम उपमा में बड़ी ही सुन्दर व्यञ्जना है। गंगा-जल का पवित्र और उज्ज्वल अथच सद्भाव के साथ चुपचाप भगीरथ-पथावलम्बी होना पुराण-प्रसिद्ध बात है। इस व्यञ्जना द्वारा महाराज दशरथ के भावों को व्यञ्जित करके कवि ने कितनी भावुकता दिखलायी है, इसको प्रत्येक हृदयवान भली-भाँति समझ सकता है। अन्य उपमाओं में भी इसी प्रकार की व्यंजना है, परन्तु उनका स्पष्टीकरण व्यर्थ विस्तार का हेतु होगा। इस प्रकार के पद्यों से 'रामचन्द्रिका'

भरा पड़ा है। कोई पृष्ठ इस ग्रन्थ का शायद ही ऐसा होगा कि जिसमें इस प्रकार के पद्य न हों। दो अर्थवाला पद्य आपने देखा, उसमें कितना विस्तार है। तीन-तीन, चार-चार अर्थ वाले पद्य कितने विचित्र होंगे उनका अनुभव आप इस पद्य से ही कर सकते हैं। मैं उन पद्यों में से भी कुछ पद्य आप लोगों के सामने रख सकता था। परन्तु उसकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या से आप लोग तो घबरायेंगे ही, मैं भी घबराता हूँ। इसलिए उनको छोड़ता हूँ। केशवदासजी के पांडित्य के समर्थक सब हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ हैं। इस दृष्टि से भी मुझे इस विषय का त्याग करना पड़ता है।

केशवदासजी का प्रकृति-वर्णन कैसा है, इसके लिए मैं आप लोगों से उद्धृत पद्यों में से प्रकृति की सुरम्यता को विशेष ध्यानपूर्वक अवलोकन करने का अनुरोध करता हूँ। इन पद्यों में जहाँ स्वाभाविकता है, वहाँ गम्भीरता भी है। कोई-कोई पद्य बड़े स्वाभाविक हैं और किसी-किसी पद्य का चित्रण इतना अपूर्व है कि वह अपने चित्रों को आँख के सामने ला देता है।

'रामचन्द्रिका' अनेक प्रकार के छन्दों के लिए भी प्रसिद्ध है। इतने छन्दों में आज तक हिन्दी भाषा का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। नाना प्रकार के हिन्दी के छन्द तो इस ग्रन्थ में हैं ही। केशवदासजी ने इसमें कई संस्कृत वृत्तों को भी लिखा है। संस्कृत वृत्तों की भाषा भी अधिकांश संस्कृत गर्भित है, वरन् उसको एक प्रकार से संस्कृत की ही रचना कही जा सकती है। उद्धृत पद्यों में से बारहवाँ पद्य इसका प्रमाण है। भिन्न तुकान्त छन्दों की रचना का हिन्दी-साहित्य में अभाव है। परन्तु केशवदासजी ने रामचन्द्रिका में इस प्रकार का एक छन्द भी लिखा है, जो यह है:—

गुणगण मणिमाला चित्त चातुर्य्य शाला।
जनक सुखद गीता पुत्रिका पाय सीता।

अखिल भुवन भर्त्ता ब्रह्म रूद्रादि कर्त्ता।
थिरचर अभिरामी कीय जामातु नामी।

संस्कृत वृत्तों का व्यवहार सबसे पहले चन्दबरदाई ने किया है। उनका वह छन्द यह है:—

"हरित कनक कांति कापि चंपेव गौरा।
रसित पदुम गंधा फुल्ल राजीव नेत्रा।
उरज जलज शोभा नाभि कोषं सरोजं।
चरण-कमल हस्ती, लीलया राजहंसी॥

इसके बाद गोस्वामीजी को संस्कृत छन्दों में संस्कृतगर्भित रचना करते देखा जाता है। विनयपत्रिका का पूर्वार्द्ध तो संस्कृत-गर्भित रच-नाओं से भरा हुआ है। गोस्वामीजी के अनुकरण से अथवा अपने संस्कृत-साहित्य के प्रेम के कारण केशवदासजी को भी संस्कृत गर्भित रचना संस्कृत वृत्तों में करते देखते हैं। इनके भी कोई-कोई पद्य ऐसे हैं जिनको लगभग संस्कृत का ही कह सकते हैं। इन्होंने ३०० वर्ष पहले भिन्न तुकान्त छन्द की नींव भी डाली, और वे ऐसा संस्कृत वृत्तों के अनुकरण से ही कर सके।

कविवर बिहारीलाल

बिहारीलाल का ग्रंथ ब्रजभाषा साहित्य का एक अनूठा रत्न है और इस बात का उदाहरण है कि घट में समुद्र कैसे भरा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण छोड़कर और किसी ग्रन्थ को इतनी सर्व-प्रियता नहीं प्राप्त हुई जितनी "बिहारी सतसई" को। रामचरित मानस के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है कि उसकी उतनी टीकाएँ बनी हों जितनी सतसई की अबतक बन चुकी हैं। बिहारीलाल के दोहों के दो चरण बड़े-बड़े कवियों के कवित्तों के चार चरणों और सहृदय कवियों के रचे हुए छप्पयों के छः चरणों से अधिकतर भाव-व्यंजना में समर्थ और प्रभाव-शालिता में दक्ष देखे जाते हैं। एक अंग्रेजी विद्वान् का यह कथन कि Brevity is the soul of wit and it is also the soul of art" (संक्षिप्तता काव्य-चतुरी की आत्मा तो है ही, कला की भी आत्मा है) बिहारी की रचना पर अक्षरशः घटित होता है। बिहारी की रचनाओं कीं पंक्तियों को पढ़कर एक संस्कृत विद्वान् की इस मधुर उक्ति में संदेह नहीं रह जाता कि "अक्षराः कामधेनवः !" अक्षर कामधेनु हैं। वास्तव में बिहारी के दोहों के अक्षर कामधेनु हैं जो अनेक सूत्र से अभिमत फल प्रदान करते हैं।

उनको पठन कर जहाँ हृदय में आनन्द का स्रोत उमड़ उठता है वहीं विमुग्ध मन नन्दन कानन में विहार करने लगता है। यदि उनकी भारती रस-धारा प्रवाहित करती है तो उनकी भाव-व्यंजना पाठकों पर अमृत-वर्षा करने लगती है। सतसई का शब्द-विन्यास जैसा ही अपूर्व है, वैसा ही विलक्षण उसमें झंकार है। काव्य एवं साहित्य का कोई गुण ऐसा नहीं जो मूर्तिमन्त होकर इस ग्रंथ में विराजमान न हो और कवि-कर्म्म की ऐसी कोई विभूति नहीं जो इसमें सुविकसित दृष्टिगत न हो। मानसिक सुकुमार भावों का ऐसा सरस चित्रण किसी साहित्य में है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु जी यही कहता है कि यह मान लिया जाय कि यदि होगा तो ऐसा ही होगा किन्तु यह लोच कहाँ? इस ग्रंथ में शृंगार रस तो प्रवाहित है ही, यत्र-तत्र अनेक सांसारिक विषयों का भी इसमें बड़ा ही मर्म-स्पर्शी वर्णन है। अनेक रहस्यों का इसमें कहीं-कहीं ऐसा निरूपण है जो उसकी स्वाभाविकता का सच्चा चित्र आँखों के सामने ला खड़ा करता है। बिहारीलाल ने अपने पूर्ववर्त्ती संस्कृत अथवा भाषा के कवियों के भाव कहीं-कहीं लिये हैं। परन्तु उनको ऐसा चमका दिया है कि यह ज्ञात होता है कि घन-पटल से बाहर निकल कर हसता हुआ मयंक सामने आ गया। इनकी सतसई के अनुकरण में और कई सतसइयाँ लिखी गयीं, जिनमें से चन्दन, विक्रम और रामसहाय की अधिक प्रसिद्ध हैं, परन्तु उस बूँद से भेंट कहाँ! पीतल सोने का सामना नहीं कर सकता। संस्कृत में भी इस सतसई का पूरा अनुवाद पंडित परमानन्द ने किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने कमाल किया है। परन्तु मूल मूल है और अनुवाद अनुवाद।

बिहारीलाल की सतसई का आधार कोई विशेष ग्रन्थ है अथवा वह स्वयं उनकी प्रतिभा का विकास है, जब यह विचार किया जाता है तो दृष्टि संस्कृत के 'आर्य्या-सप्तशती' की एवं गोवर्धन-सप्तशती की ओर आकर्षित होती है। निस्सन्देह इन ग्रन्थों में भी कवि कर्म्म का सुन्दर रूप

दृष्टिगत होता है। परन्तु मेरा विचार है कि रस निचोड़ने में बिहारी-लाल इस ग्रन्थों के रचयिताओं से अधिक निपुण हैं। जिन विषयों का उन लोगों ने विस्तृत वर्णन करके भी सफलता नहीं प्राप्त की, उनको बिहारी ने थोड़े शब्दों में लिखकर अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। इस अवसर पर कृपाराम की 'हित-तरंगिनी' भी स्मृति-पथ में आती है। परन्तु प्रथम तो उस ग्रन्थ में लगभग चार सौ दोहे हैं, दूसरी बात यह कि उनकी कृति में ललित कला इतनी विकसित नहीं है जितनी बिहारी-लाल की उक्तियों में। उन्होंने संक्षिप्तता का राग अलापा है, परन्तु बिहारी-लाल के समान वे इत्र निकालने में समर्थ नहीं हुए। उनके कुछ दोहे नीचे लिखे जाते हैं। उनको देखकर आप स्वयं विचारें कि क्या उनमें भी वही सरसता, हृदय-ग्राहिता और सुन्दर शब्द चयन-प्रवृत्ति पायी जाती है, जैसी बिहारीलाल के दोहों में मिलती है?

लोचन चपल कटाच्छ सर, अनियारे विष पूरि।
मन मृग बेधैं मुनिन के, जगजन सहित बिसूरि॥
आजु सबारे हौं गयी नंदलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू, निरखे औरै हाल॥
पति आयो परदेस ते ऋतु बसंत की मानि।
झमकि झमकि निज महल में टहलैं करै सुरानि॥

बिहारी के दोहों के सामने ये दोहे ऐसे ज्ञात होते हैं जैसे रेशम के लच्छों के सामने सूत के डोरे। संभव है कि हित-तरंगिणी को बिहारी लाल ने देखा हो, परन्तु वे कृपाराम को बहुत पीछे छोड़ गये हैं। मेरा विचार है कि बिहारीलाल की रचनाओं पर यदि कुछ प्रभाव पड़ा है तो उस काल के प्रचलित फारसी साहित्य का। उर्दू शायरी का तो तब तक जन्म भी नहीं हुआ था। फ़ारसी का प्रभाव उस समय अवश्य देश

में विस्तार लाभ कर रहा था क्योंकि अकबर के समय में ही दफ्तर फ़ारसी में हो गया था और हिन्दू लोग फ़ारसी पढ़कर उसमें प्रवेश करने लगे थे। फ़ारसी के दो बन्द के शेरों में चुने शब्दों के आधार से वैसी ही बहुत कुछ काव्य-कला विकसित दृष्टिगत होती है जैसी कि बिहारीलाल के दो चरण के दोहों में। उत्तरकाल में उर्दू शायरी में फारसी रचनाओं का यह गुण स्पष्टतया दृष्टिगत हुआ। परन्तु बिहारीलाल की रचनाओं के विषय में असंदिग्ध रीति से यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि अबतक बिहारीलाल के विषय में जो कुछ ज्ञात है उससे यह पता नही चलता कि उन्होंने फारसी भी पढ़ी थी। जो हो, परन्तु यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि बिहारीलाल के दोहों में जो थोड़े में बहुत कुछ कह जाने की शक्ति है वह अद्भुत है। चाहे यह उनकी प्रतिभा का स्वाभाविक विकास हो, अथवा अन्य कोई आधार, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब मैं उनकी कुछ रचनाएँ आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करूँगा। बिहारीलाल को शृंगार रस का महाकवि सभी ने माना है। इसलिए उसको छोड़कर पहले मैं उनकी कुछ अन्य रस की रचनाएँ आप लोगों के सामने रखता हूँ। आप देखिये कि उनमें वह गुण और वह सारग्राहिता है या नहीं जो उनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। संसार का जाल कौन नहीं तोड़ना चाहता, पर उसे तोड़ कौन सका? मनुष्य जितनी ही इस उल्झन के सुलझाने की चेष्टा करता है उतना ही वह उसमें उलझता जाता है। इस गम्भीर विषय को एक अन्योक्ति के द्वारा बिहारीलाल ने जिस सुन्दरता और सरसता के साथ कहा है वह अभूतपूर्व है। वास्तव में उनके थोड़े से शब्दों ने बहुत बड़े व्यापक सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है:—

को छूट्यो येहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहै, त्यों त्यों अरुझ्यो जात॥

यौवन का प्रमाद मनुष्य से क्या नहीं कराता ?, उसके प्रपंचों में पड़कर कितने नाना संकटों में पड़े, कितने अपने को बरबाद कर बैठे, कितने पाप-पंक में निमग्न हुए, कितने जीवन से हाथ धो बैठे और कितनों ही ने उसके रस से भींगकर अपने सरस जीवन को नीरस बना लिया । हम-आप नित्य इस प्रकार का दृश्य देखते रहते हैं । इस भाव को किस प्रकार बिहारीलाल चित्रण करते हैं, उसे देखिये—

इक भींजे चहले परे बूड़े बहे हजार ।
किते न औगुन जग करत बै नै चढ़ती बार ॥

परमात्मा आँख वालों के लिए सर्वत्र है । परन्तु आजतक उसको कौन देख पाया ? कहा जा सकता है कि हृदय की आँख से ही उसे देख सकते हैं, चर्म-चक्षुओं से नहीं । चाहे जो कुछ हो, किन्तु यह सत्य है कि वह सर्वव्यापी है और एक-एक फूल और एक-एक पत्ते में उसकी कला विद्य-मान है । शास्त्र तो यहाँ तक कहता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्तिकिंचन' । जो कुछ संसार में है वह सब ब्रह्म है, इसमें नानात्व कुछ नहीं है । फिर क्या रहस्य है कि हम उसको देख नहीं पाते ? बिहारीलालजी इस विषय को जिस मार्मिकता से समझाते हैं, उसकी सौ मुख से प्रशंसा की जा सकती है । वे कहते हैं:—

जगत जनायो जो सकल सो हरि जान्यो नाहिं ।
जिमि आँखिन सब देखिये आँखि न देखी जाहिं ॥

एक उर्दू शायर भी इस भाव का इस प्रकार वर्णन करता है: —

बेहिजाबी वहकि जल्वा हर जगह है आशिकार ।
इसपर घूँघट वह कि सूरत आजतक नादीदा है ॥

यह शेर भी बड़ा ही सुन्दर है । परन्तु भाव-प्रकाशन किसमें किस कोटि का है इसको प्रत्येक सहृदय स्वयं समझ सकता है ।

भावुक भक्त कभी-कभी मचल जाते हैं और परमात्मा से भी परिहास करने लगते हैं। ऐसा करना उनका विनोद-प्रिय प्रेम है, असंयत भाव नहीं। 'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' किसे प्यारे नहीं लगते। इसी प्रकार की एक उक्ति बिहारी की देखिये। वे अपनी कुटिलता को इसलिए प्यार करते हैं जिसमें त्रिभंगीलाल को उनके चित्त में निवास करने में कष्ट न हो, क्योंकि यदि वे उसे सरल बना लेंगे तो वे उसमें सुख से कैसे निवास कर सकेंगे? कैसा सुन्दर परिहास है। वे कहते हैं:—

करौ कुबत जग कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल॥

परमात्मा सच्चे प्रेम से ही प्राप्त होता है। क्योंकि वह सत्य-स्वरूप है। जिसके हृदय में कपट भरा है उसमें वह अन्तर्यामी कैसे निवास कर सकता है जो शुद्धता का अनुरागी है? जिसका मानस-पट खुला नहीं, उससे अन्तर्पट के स्वामी से पटे तो कैसे पटे? इस विषय को बिहारीलाल, देखिये, कितने सुन्दर शब्दों में प्रकट करते हैं:—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं केहि बाट।
विकट जटे जौ लौं निपट; खुले न कपट-कपाट॥

अब कुछ ऐसे पद्य देखिये जिनमें बिहारीलालजी ने सांसारिक जीवन के अनेक परिवर्तनों पर सुन्दर प्रकाश डाला है:—

जद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ भरिये जितो सनेह॥
जो चाहै चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त॥

अति अगाध अति ऊथरो; नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ जाको प्यास बुझाय॥
बढ़त बढ़त संपति सलिल मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत पुनि ना घटै बरु समूल कुम्हिलाय॥
को कहि सकै बड़ेन सों लखे बड़ीयौ भूल।
दीन्हें दई गुलाब की इन डारन ये फूल॥

कुछ उनके शृङ्गार रस के दोहे देखिये:—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै देन कहै नट जाय।
दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति।
तच्यो आँच अति बिरह की रह्यो प्रेम रस भींजि।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीजि पसीजि।
सघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा यमुना के तीर।
मानहुँ विधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को कियो भूखन पायंदाज।

बिहारीलाल के उद्धृत दोहों में से सब का मर्म समझाने की यदि चेष्टा की जाय तो व्यर्थ विस्तार होगा जो अपेक्षित नहीं। कुछ दोहों का मैंने स्पष्टीकरण किया है। वही मार्ग ग्रहण करने से आशा है, काव्य मर्मज्ञ सुजन अन्य दोहों का अर्थ भी लगा लेंगे और उनकी व्यंजनाओं का मर्म समझ कर यथार्थ आनन्द-लाभ करेंगे। बिहारी के

दोहों का यों भी अधिक प्रचार है और सहृदय जनों पर उनका महत्व अप्रकट नहीं है, इसलिए उनके विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है। मैं पहले उनकी रचना आदि पर बहुत कुछ प्रकाश डाल चुका हूँ। इतना फिर और कह देना चाहता हूँ कि कला की दृष्टि से 'बिहारी सतसई' अपना उदाहरण आप है। कुछ लोगों ने बिहारीलाल की शृंगार सम्बन्धी रचनाओं पर व्यंग भी किये हैं और इस सूत्र से उनकी मानसिक वृत्ति पर कटाक्ष भी। मतभिन्नता स्वाभाविक है और मनुष्य अपने विचारों और भावों का अनुचर है। इसलिए मुझको इस विषय में अधिक तर्क-वितर्क वांछनीय नहीं, परन्तु अपने विचारानुसार कुछ लिख देना भी संगत जान पड़ता है।

बिहारीलाल पर किसी-किसी ने यह कटाक्ष किया है कि उनकी दृष्टि सांसारिक भोग-विलास में ही अधिकतर बद्ध रही है। उन्होंने सांसारिक वासनाओं और विलासिताओं का सुन्दर से सुन्दर चित्र खींचकर लोगों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित की। न तो उस 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का तत्व समझा और न उसकी अलौकिक और लोकोत्तर लीलाओं और रहस्यों का अनुभव प्राप्त करने की यथार्थ चेष्टा की। वाह्य जगत् से अन्तर्जगत् अधिक विशाल और मनोरम है। यदि वे इसमें प्रवेश करते तो उनको वे महान् रत्न प्राप्त होते जिनके सामने उपलब्ध रत्न काँच के समान प्रतीत होते। परन्तु मैं कहूँगा कि न तो उन्होंने अन्तर्जगत् से मुँह मोड़ा और न लोकोत्तर की लोकोत्तरता से ही अलग रहे। क्या स्त्री का सौंदर्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' नहीं है? कामिनी-कुल के सौंदर्य में क्या ईश्वरीय विभूति का विकास नहीं? क्या उनकी सृष्टि लोक-मङ्गल की कामना से नहीं हुई? क्या उनके हाव-भाव, विभ्रम-विलास लोकोपयोगी नहीं? क्या विधाता ने उनमें इस प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न कर प्रवंचना की? और क्यों संसार को भ्रान्त बनाया? मैं समझता हूँ कि कोई तत्वज्ञ इसे न स्वीकार करेगा। यदि यह सत्य है कि संसार की रचना मङ्गल-

मयी है, तो इस प्रकारके प्रश्न हो ही नहीं सकते। जो परमात्मा की विभूतियाँ विश्व के समस्त पदार्थों में देखते हैं और यह जानते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्द है, वे संसार की मङ्गलमयी और उपयोगी कृतियों को बुरी दृष्टि से नहीं देख सकते। यदि बिहारीलाल ने स्त्री के सौंदर्य-वर्णन में उच्च कोटि की कवि-कल्पना से काम लिया, उनके नाना आनन्दमय भावों के चित्रण में अपूर्व कौशल दिखलाया, मानस की सुकुमार वृत्तियों के निरूपण में सच्ची भावुकता प्रकट की, विश्व की सारभूत दो मङ्गलमयी मूर्तियों (स्त्री-पुरुष) की मङ्गलमयी कमनीयता प्रदर्शित की और अपने पद्यों में शब्द और भाव-विन्यास के मोती पिरोये तो क्या लोक-ललाम की लोकोत्तर लीलाओं को ही रूपान्तर से प्रकट नहीं किया ? और यदि यह सत्य है तो बिहारीलाल पर व्यंग बाण-वृष्टि क्यों ? मयंक में धब्बे हैं, फूल में काँटे हैं, तो क्या उनमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का विकास नहीं है। बिहारी की कुछ कविताएँ प्रकृति नियमानुसार सर्वथा निर्दोष न हों तो क्या इससे उनकी समस्त रचनाएँ निन्दनीय हैं ? लोक-ललाम की ललामता लोकोत्तर है, इस-लिए क्या उसका लोक से कुछ सम्बन्ध नहीं ? क्या लोक से ही उसकी लोकोत्तरता का ज्ञान नहीं होता ? तो फिर लोक का त्याग कैसे होगा ? निस्सन्देह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लोक का सदुपयोग ही वांछ-नीय है, दुरुपयोग नहीं। जहाँ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है वहाँ उसको उसी रूप में ग्रहण करना कवि कर्म्म है। बिहारीलाल ने अधिकांश ऐसा ही किया है, वरन मैं तो यह कहूँगा कि उनकी कला पर गोस्वामीजी का यह कथन चरितार्थ होता है कि 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करहीं'। संसार में प्रत्येक प्राणी का कुछ कार्य होता है। अधिकारी भेद भी होता है। संसार में कवि भी हैं, वैज्ञानिक भी हैं, दार्शनिक भी हैं, तत्वज्ञ भी हैं एवं महात्मा भी। जो जिस रूप में कार्यक्षेत्र में आता है, हमको उसी रूप में उसे ग्रहण करना चाहिये और देखना चाहिये कि उसने

अपने क्षेत्र में अपना कार्य्य करके कितनी सफलता लाभ की। कवि की आलोचना करते हुए उसके दार्शनिक और तत्वज्ञ न होने का राग अलापना बुद्धिमत्ता नहीं। ऐसा करना प्रमाद है, विवेक नहीं। मेरा विचार है कि बिहारीलाल ने अपने क्षेत्र में जो कार्य्य किया है वह उल्लेखनीय है एवं प्रशंसनीय भी। यदि उसमें कुछ दुर्बलताएँ हैं तो वे उनकी विशेषताओं के सम्मुख मार्जनीय हैं, क्योंकि यह स्वाभाविकता है। इससे कौन बचा ?

बिहारीलाल की भाषा के विषय में मुझे यह कहना है कि वह साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें अवधी के 'दीन', 'कीन', इत्यादि, बुन्देलखण्डी के लखबी और प्राकृत के मित्त ऐसे शब्द भी मिलते हैं। परन्तु उनकी संख्या नितान्त अल्प है। ऐसे ही भाषागत और भी कुछ दोष उनमें मिलते हैं, किन्तु उनके महान् भाषाधिकार के सामने वे सब नगण्य हैं। वास्तव बात यह है कि उन्होंने अपने ७०० दोहों में क्या भाषा और क्या भाव, क्या सौंदर्य, क्या लालित्य सभी विचार से वह कौशल और प्रतिभा दिखलायी है कि उस समय तक उनका ग्रंथ समादर के हाथों से गृहीत होता रहेगा जब तक हिन्दी भाषा जीवित रहेगी।

बिहारीलाल के सम्बंध में डाक्टर जी. ए. ग्रियर्सन की सम्मति नीचे लिखी जाती है:—

"इस दुरूह ग्रंथ (बिहारी सतसई) में काव्य-गत परिमार्जन, माधुर्य्य और अभिव्यक्ति-सम्बंधी विदग्धता जिस रूप में पायी जाती है वह अन्य कवियों के लिए दुर्लभ है। अनेक अन्य कवियों ने उनका अनुकरण किया है, लेकिन इस विचित्र शैली में यदि किसी ने उल्लेख-योग्य सफलता पायी है तो वह तुलसीदास हैं, जिन्होंने बिहारी लाल के पहले सन् १५८५ में एक सतसई लिखी थी। बिहारी के इस

काव्य पर अगणित टीकाएँ लिखी गयी हैं। इसकी दुरूहता और विदग्धता ऐसी है कि इसके अक्षरों को कामधेनु कह सकते हैं" ।*

---

*The elegancs, poetic flavour, and ingenuity of expression in this difficult work, are considered to have been unapproached by any other poet. He has been imitated by numerous other poets, but the only one who has achieved any considerable excellence in this peculiar style is Tulsidas (No 128) who preceded him by writing a Satsai (treating of Ram as Bihari Lall treated of Krishna) in the year 1585 A, D. ....

Behari's poem has been dealt with by innumerable commentators. Its dificulty and ingenuity is one so g reat tat it is called a veritable 'Akshar Kamdhenu.'

Modern Vernacular Literature of
Hindustan P. 75

कविवर देव

अठारहवीं शताब्दी प्रारम्भ करने के साथ सबसे पहले हमारी दृष्टि महाकवि देवदत्त पर पड़ती है। जिस दृष्टि से देखा जाय इनके महाकवि होने में संदेह नहीं। कहा जाता है इन्होंने बहत्तर ग्रन्थों की रचना की। हिन्दी-भाषा के कवियों में इतने ग्रन्थों की रचना और किसी ने भी की है, इसमें सन्देह है। इनके महत्व और गौरव को देखकर ब्राह्मण जाति के दो विभागों में अबतक द्वंद्व चल रहा है। कुछ लोग सनाढ्य कहकर इन्हें अपनी ओर खींचते हैं और कोई कान्यकुब्ज कहकर इन्हें अपना बनाता है। पंडित शालग्राम शास्त्री ने, थोड़े दिन हुए, 'माधुरी' में एक लम्बा लेख लिखकर यह प्रतिपादित किया है कि महाकवि देव सनाढ्य थे। मैं इस विवाद को अच्छा नहीं समझता। वे जो हों, किन्तु हैं ब्राह्मण जाति के और ब्राह्मण जाति के भी न हों तो देखना यह है कि साहित्य में उनका क्या स्थान है। मेरा विचार है कि सब बातों पर दृष्टि रखकर यह कहना पड़ेगा कि ब्रजभाषा का मुख उज्ज्वल करनेवाले जितने महाकवि हुए हैं, उन्हीं में एक आप भी हैं। एक दो विषयों में कवि-कर्म्म करके सफलता लाभ करना उतना प्रशंसनीय नहीं, जितना अनेक विषयों पर समभाव से लेखनी चला कर साहित्य-क्षेत्र में कीर्ति

अर्जन करना। वे रीति-ग्रंथ के आचार्य ही नहीं थे और उन्होंने काव्य के दसो अंगों पर लेखनी चला कर ही प्रतिष्ठा नहीं लाभ की, वेदान्त के विषयों पर भी बहुत कुछ लिखकर वे सर्वदेशीय ज्ञान का परिचय प्रदान कर सके हैं। इस विषय पर उनकी 'ब्रह्म-दर्शन-पचीसी', 'तत्वदर्शन-पचीसी' 'आत्म-दर्शन-पचीसी' और 'जगत-दर्शन-पचीसी' आदि कई अच्छी रचनाएँ हैं। उनके 'नीतिशतक', 'राग-रत्नाकर', 'जातिविलास', 'भाव विलास' आदि ग्रंथ भी अन्य विषयों के हैं और इनमें भी उन्होंने अच्छी सहृदयता और भावुकता का परिचय दिया है। उनका 'देव माया प्रपंच' नाटक भी विचित्र है। इसमें भी उनका कविकर्म्म विशेष गौरव रखता है। शृंगार रस का क्या पूछना! उसके तो वे प्रसिद्धि-प्राप्त आचार्य हैं। मेरा विचार है कि इस विषय में आचार्य केशवदास के बाद उन्हीं का स्थान है। उनकी रचनाओं में रीति ग्रंथों के अतिरिक्त एक प्रबन्ध काव्य भी है जिसका नाम 'देव-चरित्र' है, इसमें उन्होंने भगवान कृष्णचन्द्र का चरित्र वर्णन किया है। 'प्रेम-चंद्रिका' भी उनका एक अनूठा ग्रंथ है। उसमें उन्होंने स्वतंत्र रूप से प्रेम के विषय में अनूठी रचनाएँ की हैं। कवि-कर्म्म क्या है। भाषा और भावों पर अधिकार होना और प्रत्येक विषयों का यथातथ्य चित्रण कर देना। देवजी दोनों बातों में दक्ष थे। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में यह देखा जाता है कि उस समय जितने बड़े-बड़े कवि हुए उनमें से अधिकांश किसी राजा-महाराजा अथवा अन्य प्रसिद्ध लक्ष्मी-पात्र के आश्रय में रहे। इस कारण उनकी प्रशंसा में भी उनको बहुत सी रचनाएँ करनी पड़ीं। कुछ लोगों की यह सम्मति है कि ऐसे कवि अथवा महाकवियों से उच्च कोटि की रचनाओं और सच्ची भावमय कविताओं के रचे जाने की आशा करना विडम्बना मात्र है, क्योंकि ऐसे लोगों के हृदय में उच्छ्वासमय उच्च भाव उत्पन्न हो ही नहीं सकते जो एक आत्मनिर्भर, स्वतंत्र, अथच मनस्वी कवि अथवा महाकवि में स्वभावतः

उद्भूत होते हैं। उन्मुक्त कवि कर्म्म ही कवि-कर्म्म है जिसका कार्य चित्त का स्वतंत्र उद्गार है। जो हृदय किसी की चापलूसी अथवा तोषामोद में निरत है और अपने आश्रयदाता के इच्छानुसार कविता करने के लिए विवश है, या उसकी उचित-अनुचित प्रशंसा करने में व्यस्त है, वह कवि उस रत्न को कैसे प्राप्त कर सकता है जो स्वभावतया तरंगायमान मानस-उदधि से प्राप्त होते हैं। मेरा विचार है, इस कथन में सत्यता है। परन्तु इससे इस परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता कि कोई कवि किसी के आश्रित रह कर सत्कवि या महाकवि हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्रथम तो कवि स्वाधीनताप्रिय होता है, दूसरी बात यह कि कवि का अधिकतर सम्बन्ध प्रतिभा से है। इसलिए किसी का आश्रित होना उसके कवित्व गुण का बाधक नहीं हो सकता। किसी आत्म-विक्रयी की बात और है। हाँ, बंधन-रहित किसी स्वतंत्र कवि का महत्व उससे अधकि है, यह बात निस्संकोच भाव से स्वीकार की जा सकती है। कविवर देवदत्त में जो विलक्षण प्रतिभा विकसित दृष्टिगत होती है उसका मुख्य कारण यही है कि वे स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे जिससे वे किसी के आश्रय में चिरकाल तक न रह सके। जिस दरबार में गये उसमे अधिक दिन ठहरना उन्हें पसन्द नहीं आया। मालूम होता है कि बंधन उनको प्रिय नहीं था। मैं समझता हूँ इससे हिन्दी-साहित्य को लाभ ही हुआ क्योंकि उनके उन्मुक्त जीवन ने उनसे अधिकतर ऐसी रचनाएँ करायीं जो सर्वथा स्वतंत्र कही जा सकती हैं। प्रत्येक भाषा के साहित्य के लिए ऐसी रचनाएँ ही अधिक अपेक्षित होती हैं, क्योंकि उनमें वे उन्मुक्त धाराएँ बहती मिलती हैं जो पराधीनता एवं स्वार्थपरता दोष से मलिन नहीं होतीं। कविवर देवदत्त की रचनाओं का जो अंश इस ढंग में ढला हुआ है वहीं अधिक प्रशंसनीय है और उसी ने उनको हिन्दी-साहित्य में वह उच्च स्थान प्रदान किया है जिसमें अधिकारी हिन्दी-संसार के इने गिने कवि-पुंगव

ही हैं। मिश्र-बन्धुओं ने अपने ग्रंथ में देवजी के सम्बन्ध में निम्न-लिखित कवित्त लिखा है:—

सूर सूर तुलसी सुधाकर नच्छत्र केशव,
सेस कविराजन कौ जुगुनू गनाय कै।
कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो, अब,
काव्य-रीति मोसन सुनहु चित लाय कै।
देव नभमंडल समान है कबीन मध्य,
जामैं भानु सितभानु तारागन आय कै।
उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै
जाको ओर छोर नहिं परत लखाय कै।

इससे अधिक लोग सहमत नहीं हैं। इस पद्य ने कुछ काल तक हिन्दी संसार में एक अवांछित आंदोलन खड़ा कर दिया था। कोई कोई इस रचना को अधिक रंजित समझते हैं। परन्तु मैं इसको विवाद-योग्य नहीं समझता। प्रत्येक मनुष्य अपने विचार के लिए स्वतंत्र है। जिसने इस कवित्त की रचना की, उसका विचार देवजी के विषय में ऐसा ही था। यदि अपने भाव को उसने प्रकट किया तो उसको ऐसा करने का अधिकार था। चाहे कुछ लोग उसको वक्रदृष्टि से देखें, परन्तु मेरा विचार यह है कि यह कवित्त केवल इतना ही प्रकट करता है कि देवजी के विषय में हिन्दी संसार के किसी-किसी विदग्ध जन का क्या विचार है। मैं इस कवित्त के भाव को इसी कोटि में ग्रहण करता हूँ और उससे यही परिणाम निकालता हूँ कि देवजी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष स्थान के अधिकारी हैं। कोई भाषा समुन्नत होकर कितनी प्रौढ़ता प्राप्त करती है, देवजी की भाषा इसका प्रमाण है। उनका कथन है:—

कविता कामिनि सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे बिसद, अद्भुत रूप लखाति॥

मैं देखता हूँ कि उनकी रचना में उनके इस कथन का पूर्ण विकास है। जितनी बातें इस दोहे में हैं वे सब उनकी कविता में पायी जाती हैं।

उनकी अधिकतर रचनाएँ कवित्त और सवैया में हैं। उनके कवित्तों में जितना प्रबल प्रवाह, ओज, अनुप्रास और यमक की छटा है, वह विलक्षण है। सवैयों में यह बात नहीं है, परन्तु उनमें सरसता और मधुरता छलकती मिलती है। कवि या महाकवि दो प्रकार के देखे जाते हैं; एक की रचना प्रसादमयी और दूसरे की गम्भीर, गहन विचारमयी और गूढ़ होती है। इन दोनों गुणों का किसी एक कवि में होना कम देखा जाता है, देवजी में दोनों बातें पायी जाती हैं और यह उनकी उल्लेखनीय विशेषता है। मानसिक भावों के चित्रण में, कविता को संगीतमय बनाने में भावानुकूल शब्द-विन्यास में, भाषानुसार शब्दों में ध्वनि उत्पन्न करने में और कविता को व्यंजनामय बना देने में महाकवियों की सी शक्ति देवजी में पायी जाती है।

प्रायः ऐसे अवसर पर लोग तुलनात्मक समालोचना को पसन्द करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करने से एक दूसरे का उत्कर्ष दिखाने में बहुत बड़ी सहायता प्राप्त होती है। परन्तु ऐसी अवस्था में, निर्णय के लिए दोनों कवियों की समस्त रचनाओं की आलोचना होनी आवश्यक है। यह नहीं कि एक दूसरे के कुछ समान भाव के थोड़े से पद्यों को लेकर समालोचना की जाय और उसी के आधार पर एक से दूसरे को छोटा या बड़ा बना दिया जाय। यह एकदेशिकता है। कोई कवि दस विषयों को लिखकर सफलता पाता है और कोई दो-चार विषयों को लिखकर ही कृतकार्य होता है। ऐसी अवस्था में उन दोनों के कतिपय विषयों को लेकर ही तुलनात्मक समालोचना करना समुचित नहीं। समालोचना के समय यह भी विचारना चाहिये कि उनकी रचना

में लोक-मंगल की कामना और उपयोगिता कितनी है। उसका काव्य कौन-सा संदेश देता है और उसकी उपयुक्तता किस कोटि की है। बिना इन सब बातों पर विचार किये कुछ थोड़े-से पद्यों को लेकर किसी का महत्व प्रतिपादन युक्तिसंगत नहीं। अतएव मैं यह मीमांसा करने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ कि जो हिन्दी-संसार के महाकवि हैं उनमें से किससे देव बड़े हैं और किससे छोटे। प्रत्येक विषय में प्रत्येक को महत्व प्राप्त नहीं होता और न सभी विषयों में सबको उत्कर्ष मिलता है। अपने-अपने स्थान पर सब आदरणीय हैं, और भगवती वीणा-पाणि के सभी वर पुत्र हैं। कविवर सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास क्षणजन्मा पुरुष हैं। उनको वह उच्चपद प्राप्त है जिसके विषय में किसी को तर्क-वितर्क नहीं। इसलिए मैंने जो कुछ इस समय मथन किया है, उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

अब मैं आप लोगों के सामने देवजी की कुछ रचनाएँ उपस्थित करता हूँ। आप उनको अवलोकन करें और यह विचारें कि उनकी कविता किस कोटि की है और उसमें कितना कवि-कर्म्म है:—

(१) **पाँयन नूपुर मंजु बजैं कटि**
किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत हिये
हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल
मंद हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुन्दर
श्री ब्रज दूलह देव सहाई।

(२) देवजू जो चित चाहिये नाह
तो नेह निबाहिये देह हर्यो परै।
जौ समझाइ सुझाइये राह
अमारग मैं पग धोखे धर्यो परै।
नीके मैं फीके ह्वै आँसू भरो कत
ऊँचे उसास गरो क्यों, भर्यो परै।
रावरो रूप पियो अँखियान भर्यो सो
भर्यो उमड़्यो सो ढर्यो परै।

(३) भेष भये बिष भाव ते भूषन
भूख न भोजन की कछु ईछी।
मीचु की साध न सोंधे की साध
न दूध सुधा दधि माखन छीछी।
चंदन तौ चितयो नहिं जात
चुभी चित माहिं चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यों सूल सिला सम सेज
बिछौनन बीच बिछी जनु बीछी।

(४) प्रेम पयोधि परे गहिरे अभिमान
को फेन रह्यो गहि रे मन।
कोप तरंगिनि सों बहिरे पछिताय
पुकारत क्यों बहिरे मन।

देव जू लाज-जहाज ते कूदि
रह्यो मुख मूँदि अजौं रहि रे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुही अब
तेरी अनीति तुही सहि रे मन।

(५) आवत आयु को द्यौस अथोत
गये रवि त्यों अँधियारियै ऐहै।
दाम खरे दै खरीद करौ गुरु
मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।
देव छितीस की छाप बिना
जमराज जगाती महादुख दैहै।
जात उठी पुर देह की पैठ, अरे
बनिये बनियै नहिं रैहै।

(६) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनी
नेह सों निहारि हेरि बदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधावर बिरद के वारिधि में बोरतो।

(७) गुरु जन जावन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि
मथ्यो न बिवेक रई देव जो बनायगो।
माखन मुकुति कहाँ छाड्यो न भुगुति जहाँ
नेह बिनु सगरो सवाद खेह नायगो।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ भांड़े
नच्यो कोप आँच पच्यो मदन छिनायगो।
पायो न सिरावनि सलिल छिमा छींटन सों
दूध सो जनक बिनु जाने उफनायगो।

(८) कथा मैं न कंथा मैं न तीरथ के पंथा मैं न
पोथी मैं न पाथ मैं न साथ की बसीती मैं।
जटा मैं न मुंडन न तिलक त्रिपुंडन न
नदी कूप कुंडन अन्हान दान रीति मैं।
पीठ मठ मंडल न कुंडल कमंडल न
मालादंड मैं न देव देहरे की भीति मैं।
आपुही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो
पाइये प्रगट परमेसर प्रतीति मैं।

(९) संपति में एंठि बैठे चौतरा अदालति के
बिपति में पैन्हि बैठे पाँय झुनझुनियाँ।
जेतो सुख संपति तितोई दुख बिपति मैं
संपति मैं मिरजा विपति परे धुनियाँ।

संपति ते बिपति बिपति हूँ ते संपति है
संपति औ बिपति बराबरि कै गुनियाँ।
संपति मैं काँय काँय बिपति में भाँय भाँय
काँय काँय भाँय भाँय देखी सब दुनियाँ।

(१०) आयी बरसाने ते बुलाई वृषभानु सुता
निरखि प्रभानि प्रभा भानुकी अथै गयी।
चक चकवान के चकाये चक चोटन सों
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गयी।
देव नँद नन्दन के नैनन अवन्दमयी
नन्द जू के मन्दिरनि चन्दमयी छ्वै गयी।
कंजन कलिनमयी कुंजन नलिनमयी
गोकुल की गलिन अलिनमयी कै गयी।

(११) औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो
तामें तीनो लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चित भंग मैं।
आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि
जम्बु जल बुंद जमुना जल तरंग मैं।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई
स्याम रंग है करि समायो स्याम रङ्ग मैं।

(१२) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
साँसैं भरि आँसू भरि कहति दई-दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव
जकि जकि बकि बकि परति बई-बई।
दुहुँन को रूप गुन दोउ बरनत फिरैं
घर न थिराति रीति नेह की नई-नई।
मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिका मै
राधिका हूँ मोहि मोहि मोहनमई-मई।

(१३) जब ते कुँवर कान्ह रावरी कलानिधान
कान परी वाके कहू सुजस-कहानी सी।
तब ही ते देव देखी देवता सी हँसति-सी
खीझति-सी रीझति-सी रूसति रिसानी-सी।
छोही सी छली सी छीनि लीनी सी छकी सी छिन
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी
बींधी सी बिंधी सी बिष बूड़ी सी बिमोहित सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी।

(१४) देखे अनदेखे दुख-दानि भये सुख-दानि
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो।
पानि पान भोजन सुजन गुरुजन भूले
'देव' दुरजन लोग लरत खरे परो।

लागो कौन पाप पल ऐकौ न परति कल
दूरि गयो गेह नयो नेह नियरे परो।
होतो जो अजान तौ न जानतो इतीक बिथा
मेरे जिये जान तेरो जनिबो गरे परो।

(१५) तेरो कह्यो करि करि जीव रह्यो जरि जरि
हारी पाँय परि परि तऊ तैं न की सम्हार।
ललन बिलोके 'देव' पल न लगाये तब
यों कल न दीन तैं छलन उछलनहार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौ बँधाई
आपु बिधि बूड्यो माँझ बाधा सिंधु निराधार।
एरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीने अब
एकै वार दैकै तोहिं मूँदि मारौ एक बार।

देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है और उनकी लेखनी ने उसमें साहित्यिकता की पराकाष्ठा दिखलायी है। उनकी रचनाओं में शब्द-लालित्य नर्तन करता दृष्टिगत होता है और अनुप्रास इस सरसता से आते हैं कि अलंकारों को भी अलंकृत करते जान पड़ते हैं; यह मैं स्वीकार करूँगा कि उन्होंने कहीं-कहीं अनुप्रास, यमक आदि के लोभ में पड़कर उन्हीं ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो गढ़े अथवा तोड़े-मरोड़े जान पड़ते हैं। परन्तु वे बहुत अल्प हैं और उनकी मनोहर रचना में आकर मनोहरता ही ग्रहण करते हैं, अमनोहर नहीं बनते। ब्रजभाषा के जितने नियम हैं उनका पालन तो उन्होंने किया ही है, प्रत्युत उसमें एक ऐसी सरस धारा भी बहा दी है जो बहुत ही मुग्धकरी है और जिसका

अनुकरण बाद के कवियों ने अधिकतर किया है। उनकी रचनाओं में अन्य प्रान्तों के भी शब्द मिल जाते हैं। इसका कारण उनका देशाटन है। परन्तु वे उनमें ऐसे बैठाये मिलते हैं जैसे किसी सुन्दर स्वर्णाभरण में कोई नग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कविवर देवदत्त महाकवि थे और उनकी रचनाओं में अधिकांश महाकवि की सी महत्ताएँ मौजूद हैं।

कविवर भारतेन्दु

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ऐसा काल है जिसमें बहुत बड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए। परिवर्त्तन क्यों उपस्थित होते हैं, इस विषय में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मैं यह बतलाऊँगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक अवस्था क्या थी। मुसलमानों के राज्य का अन्त हो चुका था और ब्रिटिश राज्य का प्रभाव दिन-दिन विस्तार-लाभ कर रहा था। अँगरेजी शिक्षा के साथ साथ योरोपीय भावों का प्रचार हो रहा था और 'यथा राजा तथा प्रजा' सिद्धान्त के अनुसार भारतीय रहन-सहन-प्रणाली भी परिवर्त्तित हो चली थी। अँगरेजों का जातीय भाव बड़ा प्रबल है। उनमें देशप्रेम की लगन भी उच्चकोटि की है। विचार स्वातंत्र्य उनका प्रधान गुण है। कार्य को प्रारम्भ कर उसको दृढ़ता के साथ पूर्ण करना और उसे बिना समाप्त किये न छोड़ना यह उनका जीवन-व्रत है। उनके समाज में स्त्री जाति का उचित आदर है, साथ ही पुरुषों के समान उनका स्वत्व भी स्वीकृत है। ब्रिटिश राज्य के संसर्ग से और अँगरेजी भाषा की शिक्षा पाकर ये सब बातें, और इनसे सम्बन्ध रखनेवाले और अनेक भाव इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और प्रान्तों के साथ-साथ हमारे प्रान्त में

भी अधिकता से फैले। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज का डंका बजाया और हिन्दुओं में जो दुर्बलताएँ, रूढ़ियाँ और मिथ्याचार थे उनका विरोध सबलता से किया। इन सब बातों का यह प्रभाव हुआ कि इस प्रकार के साहित्य की देश को आवश्यकता हुई जो कालानुकूल हो और जिससे हिन्दू समुदाय की वह दुर्बलताएँ दूर हों जिनसे उसका प्रतिदिन पतन हो रहा था। यही नहीं, इस समय यह लहर भी वेग से सब ओर फैली कि किस प्रकार देशवासी अपने कर्त्तव्यों को समझें और कौन-सा उद्योग करके वे भी वैसे ही बनें जैसे योरोप के समुन्नत समाजवाले हैं। कोई जाति उसी समय जीवित रह सकती है जब वह अपने को देशकालानुसार बना ले और अपने को उन उन्नतियों का पात्र बनाये जिनसे सब दुर्बलताओं का संहार होता है, और जिनके आधार से लोग सभ्यता के उन्नत सोपानों पर चढ़ सकते हैं। इन भावों का उदय जब हृदयों में हुआ तब इस प्रकार की साहित्य-सृष्टि की ओर समाज के प्रतिभा-सम्पन्न विबुधों की दृष्टि गयी और वे उचित यत्न करने के लिए कटिबद्ध हुए। अनेक समाचार-पत्र निकले और विविध पुस्तक-प्रणयन द्वारा भी इष्ट-सिद्धि का उद्योग प्रारम्भ हुआ।

बाबू हरिश्चन्द्र इस काल के प्रधान कवि हैं। प्रधान कवि ही नहीं, हिन्दी साहित्य में गद्य की सर्व-सम्मत और सर्व-प्रिय शैली के उद्भावक भी आप ही हैं। हम इस स्थान पर यही विचार करेंगे कि उनके द्वारा हिन्दी पद्य में किन प्राचीन भावों का विकास और किन नवीन भावों का प्रवेश हुआ। बाबू हरिश्चन्द्र महाप्रभु वल्लभाचार्य्य के सम्प्रदाय के थे। इसलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीमती राधिका में उनका अचल अनुराग था। इस सूत्र से वे ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी थे। उनकी अधिकांश रचनाएँ प्राचीन-शैली की हैं और उनमें राधाकृष्ण का गुणानुवाद उसी भक्ति और श्रद्धा के साथ गाया गया है, जिससे अष्टछाप के वैष्णवों की रचनाओं को महत्ता प्राप्त है। उन्होंने न तो

कोई रीति ग्रन्थ लिखा है और न कोई प्रबंध-काव्य। किन्तु उनकी स्फुट रचनाएँ इतनी अधिक हैं जो सर्वतोमुखी प्रतिभावाले मनुष्य द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती हैं।

उन्होंने होली आदि, पर्वों, त्योहारों और उत्सवों पर गाने योग्य सहस्रों पद्यों की रचना की है। प्रेम-रस से सिक्त ऐसे-ऐसे कवित्त और सवैये बनाये हैं जो बड़े ही हृदयग्राही हैं। जितने नाटक या अन्य गद्य ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं, उन सबमें जितने पद्य आये हैं वे सब ब्रजभाषा ही में लिखे गये हैं। इतने प्राचीनता–प्रेमी होने पर भी उनमें नवीनता दृष्टिगत होती है। वे देश-दशा पर अश्रु बहाते हैं, जाति-ममता का राग अलापते हैं, जाति की दुर्बलताओं की ओर जनता की दृष्टि आकर्षित करते हैं, और कानों में वह मंत्र फूँकते हैं जिससे चिरकाल की बन्द आँखें खुल सकें। उनके 'भारत-जननी' और 'भारत-दुर्दशा' नामक ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। बाबू हरिश्चन्द्र ही वह पहले पुरुष हैं जिन्होंने सर्व-प्रथम हिन्दी साहित्य में देश-प्रेम और जाति-ममता की पवित्र धारा बहायी। वे अपने समय के मयंक थे। उनकी उपाधि 'भारतेन्दु' है। इस मयंक के चारों ओर जो जगमगाते हुए तारे उस समय दिखलायी पड़े, उन सब में भी उनकी कला का विकास दृष्टिगत हुआ। सामयिकता की दृष्टि से उन्होंने अपने विचारों को कुछ उदार बनाया और ऐसे भावों के भी पद्य बनाये जो धार्मिक संकीर्णता को व्यापकता में परिणत करते हैं। 'जैन-कुतूहल' उनका ऐसा ही ग्रन्थ है। उनके समय में उर्दू शायरी उत्तरोत्तर समुन्नत हो रही थी। उनके पहले और उनके समय में भी उर्दू भाषा के ऐसे प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने उसको चार चाँद लगा दिये। उनका प्रभाव भी इनपर पड़ा और इन्होंने अधिक उर्दू शब्दों को ग्रहणकर हिन्दी में 'फूलों का गुच्छा' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें लावनियाँ हैं जो खड़ी बोली में लिखी गयी हैं। वे यद्यपि हिन्दी भाषा ही में रचित हैं, परन्तु उनमें उर्दू का पुट पर्याप्त

है। यदि सच पूछिये तो हिन्दी में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली रचना का प्रारम्भ इसी ग्रंथ से होता है। मैं यह नहीं भूलता हूँ कि यदि सच्चा श्रेय हिन्दी में खड़ी बोली की कविता पहले लिखने का किसी को प्राप्त है तो वे महन्त सीतलदास हैं। वरन मैं यह कहता हूँ कि इस उन्नीसवीं शताब्दी में पहले पहल यह कार्य भारतेन्दुजी ही ने किया। कुछ लोग उसको उर्दू की ही रचना मानते हैं, परन्तु मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं। इसलिए कि जैसे हिन्दी भाषा और संस्कृत के तत्सम शब्द उसमें आये हैं वैसे शब्द उर्दू की रचना में आते ही नहीं।

बाबू हरिश्चन्द्र नवीनता-प्रिय थे और उनकी प्रतिभा मौलिकता से स्नेह रखती थी। इसलिए उन्होंने नयी-नयी उद्भावनाएँ अवश्य कीं, परन्तु प्राचीन ढंग की रचना ही का आधिक्य उनकी कृतियों में है। ऐसी ही रचना कर वे यथार्थ आनन्द का अनुभव भी करते थे। उनके पद्यों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके छोटे बड़े ग्रंथों की संख्या लगभग १०० तक पहुँचती है। इनमें पद्य के ग्रंथ चालीस-पचास से कम नहीं हैं। परन्तु ये समस्त ग्रंथ लगभग ब्रजभाषा ही में लिखे गये हैं। उनकी भाषा सरस और मनोहर होती थी। वैदर्भी वृत्ति के ही वे उपासक थे। फिर भी उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो अधिकतर संस्कृत गर्भित हैं। वे सरल से सरल और दुरूह से दुरूह भाषा लिखने में सिद्धहस्त थे। ग़ज़लें भी उन्होंने लिखी हैं जो ऐसी हैं जो उर्दू के उस्तादों के शेरों की समता करने में समर्थ हैं। मैं पहले कह चुका हूँ कि वे प्रेमी जीव थे। इसलिए उनकी कविता में प्रेम का रंग बड़ा गहरा है। उनमें शक्ति भी थी और भक्तिमय स्तोत्र भी उन्होंने अपने इष्टदेव के लिखे हैं, परंतु जैसी उच्च कोटि की उनकी प्रेम संबंधी रचनाएँ हैं वैसी अन्य नहीं। उनकी कविता को पढ़कर यह ज्ञात होता है कि उनकी कविकृति इसी में अपनी चरितार्थता समझती है कि वह भगवल्लीला-मयी हो। वे विचित्र स्वभाव के थे। कभी तो यह कहते:—

जगजिन तृण सम करि तज्यो अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन लीजत वाको नाँव॥
परम प्रेम निधि रसिकवर अति उदार गुनखान।
जग जन रंजन आशु कवि को हरिचंद समान॥

कभी सगर्व होकर यह कहते—

चंद टरै सूरज टरै टरैं जगत के नेम।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को टरै न अविचल प्रेम॥

जब वे अपनी सांसारिकता को देखते और कभी आत्म-ग्लानि उत्पन्न होती तो यह कहने लगते—

जगत-जाल में नित बँध्यो पर्यो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कवि हरिचंद॥

उनकी जितनी रचनाएँ हैं, इसी प्रकार विचित्रताओं से भरी हैं। कुछ उनमें से आप लोगों के सामने उपस्थित की जाती हैं—

१—**इन दुखियान को न सुख सपने हूँ मिल्यो**
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचंद जू की बीती जानि औधि जोपै
जैहैं प्रान तऊ ए तो संग ना समायँगी।
देख्यो एक बार हूँ न नैन भरि तोहिं यातें
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायँगी।
बिना प्रान-प्यारे भये दरस तिहारे हाय
मुएहू पै आँखें ये खुली रह जायँगी॥

२—हौं तो याही सोच में विचारत रही रे काहें
दरपन हाथ ते न छिन बिसरत है।
त्यों ही हरिचंद जू वियोग औ सँजोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात तू तो
परम पुनीत प्रेम-पथ बिचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति ताहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है।

३—जानि सुजान हौं नेह करी सहि
कै बहुभाँतिन लोक हँसाई।
त्यों हरिचंद जूं जो जो कह्यो
सो कस्यो चुप ह्वै करि कोटि उपाई।
सोऊ नहीं निबही उन सों
उन तोरत बार कछू न लगाई।
साँची भई कहनावति वा अरी
ऊँची दूकान की फीकी मिठाई।

४—आजु लौं जौ न मिले तो कहा
हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं
सबै फल आपने भाग को पावैं।
जो हरिचंद भई सो भई अब
प्रान चले चहैं याते सुनावैं।

प्यारे जू है जग की यह रीति
बिदा के समै सब कंठ लगावैं।

५—पियारो पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान मैं, नाहिं ध्यान मैं, नाहिं करम कुल नेम मैं।
नहिं मंदिर मैं, नहिं पूजा मैं, नहिं घंटा की घोर मैं।
हरीचंद वह बाँध्यो डोलै एक प्रेम की डोर मैं॥

६—सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिरपाग पेच कसि राखहु अलक सँवारी।
हिय हलकन बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखो कंकन फँसन निवारी।
नूपुर लेहु चढ़ाय किंकिनी खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकै बाँधो हो बनवारी।
हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहिं दीन्हों तारी।
बानो जुगओ नीके अबकी हरीचंद की बारी।

एक उर्दू की ग़ज़ल भी देखिये:—

७—दिल मेरा ले गया दग़ा कर के।
बेवफ़ा हो गया वफ़ा कर के।

हिज्र की शब घटा ही दी हमने।
दास्ताँ ज़ुल्फ़ की बढ़ा करके।

वक्ते रहलत जो आये बालीं पर।
ख़ूब रोये गले लगा कर के॥

सरवे क़ामत ग़ज़ब की चाल से तुम।
क्यों कयामत चले बपा करके॥

.खुद बखुद आज जो वह बुत आया।
मैं भी दौड़ा .खुदा .खुदा कर के॥

दोस्तो कौन मेरी तुरबत पर।
रो रहा है रसा रसा कर के।

८—श्रीराधामाधव युगल प्रेम रसका अपने को मस्त बना।
पी प्रेम-पियाला भर भरकर कुछ इस मैका भी देख मज़ा।
इतबार न हो तो देख न ले क्या हरीचंद का हाल हुआ।

९—नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।

१०—तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये।
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनि आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरिसेवा हित नै रहे निरखि नयन मन सुख लहत।

उनकी इस प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें खड़ी बोली का भी पुट पाया जाता है। जैसे यह पद्य :—

डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई।
जब चलना ही निश्चय है तौ लै किन माल लदाई।
हरीचंद हरिपद बिनु नहिं तौ रहि जैहौ मुँह बाई।

किन्तु उनकी इस प्रकार की रचना बहुत थोड़ी है। क्योंकि उनका विश्वास था कि खड़ी बोल-चाल में सरस रचना नहीं हो सकती। उन्होंने अपने हिन्दी भाषा नामक ग्रंथ में लिखा है कि खड़ी बोली में दीर्घान्त पद अधिक आते हैं, इसलिए उसमें कुछ-न-कुछ रूखापन आ ही जाता है। इस विचार के होने के कारण उन्होंने खड़ी बोल-चाल की कविता करने की चेष्टा नहीं की। किन्तु आगे चलकर समय ने कुछ और ही दृश्य दिखलाया, जिसका वर्णन आगे किया जावेगा। बाबू हरिश्चन्द्र जो रत्न हिन्दी भाषा के भाण्डार को प्रदान कर गये हैं वे बहुमूल्य हैं, यह बात मुक्तकंठ से कही जा सकती है।